बिहार सरकार

एस.सी.ई.आर.टी., बिहार
द्वारा विकसित

F2

दो वर्षीय सेवापूर्व डिप्लोमा इन एलिमेन्ट्री एजुकेशन

बचपन और बाल-विकास

भाग-1 (प्राथमिक स्तर)

राज्य शिक्षा शोध एवं प्रशिक्षण परिषद् (एस.सी.ई.आर.टी.),
महेन्द्रू, पटना, बिहार

बिहार सरकार

एस.सी.ई.आर.टी., बिहार द्वारा विकसित

दो वर्षीय सेवापूर्व
डिप्लोमा इन एलिमेण्ट्री एजुकेशन

बचपन और बाल-विकास

F- 2

राज्य शिक्षा शोध एवं प्रशिक्षण परिषद् (एस.सी.ई.आर.टी.),
महेन्द्रू, पटना, बिहार - 800006

तकनीकी सहायता: Implementation Support Agency, SCERT Bihar

प्रकाशक

राज्य शिक्षा शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्
(एस.सी.ई.आर.टी.), महेन्द्रू, पटना, बिहार

© एस.सी.ई.आर.टी., बिहार

विश्व बैंक सम्पोषित परियोजना के अन्तर्गत
डी.एल.एड. (फेस–टू–फेस) के साधनसेवियों एवं प्रशिक्षुओं हेतु

आमुख

हमारे बिहार के विद्यालयों में ऐसे शिक्षकों की ज़रूरत है जिसके लिए शिक्षण वृत्ति एक स्वाभाविक प्रतिबद्धता हो और जो शिक्षण को एक आनन्ददायी कार्य मानते हों। उन्हें पढ़ाये जाने वाले विषय व पढ़ाने के कौशल तो अच्छी तरह से आते ही हों, साथ–ही वह उन बच्चों को भी बेहतर तरीक़े से जानते व समझते हों जिन्हें वे पढ़ा रहे हैं। अतः विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि, खासकर उपेक्षित वर्ग से आनेवाले बच्चों के प्रति विद्यालय के शिक्षकों में सजगता एवं संवेदनशीलता का होना सबसे जरूरी है, जिसके बिना उन बच्चों को विद्यालयीय शिक्षा की प्रक्रिया में शामिल कर पाना असम्भव है। साथ ही, एक शिक्षक या शिक्षिका में लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति लगाव उसे सीखने–सिखाने की प्रक्रिया को रोचक व सहज बनाने में सहायक होता है। बिहार जैसे बहुलतावादी समाज में बेहतर शिक्षा तभी संभव हो सकती है, जब हम 'समता' व 'बहुलता' की समझ को अपनी शिक्षा प्रक्रिया के केन्द्र में रखें।

बीसवीं सदी के आख़िरी दशक और इस सदी के शुरुआत में पाठ्यक्रम का बदलाव एक गहरा सामाजिक और राजनैतिक सवाल बनकर उभरा है। जब पाठ्यक्रम में बदलाव 'तेज़ी' से हो रहा हो तो 'शिक्षक' में इस संभावना को खोजा जाना लाज़िमी है कि वह नयी अकादमिक स्थितियों से सामंजस्य कर सके और ज़रूरत हो तो उनसे मुक़ाबला भी कर सके। उदाहरण के तौर पर, एक संकुचित अवधारणा यह है कि शिक्षक पाठ्यक्रम की बातों को गन्तव्य (बच्चों) तक पहुँचाने वाला एक माध्यम मात्र है, जो बच्चों को पाठ्य–पुस्तकों में लिखी बातों को रटवायेगा व बच्चे उसे परीक्षा में पुनरोत्पादित करेंगे। शिक्षक की इस रूढ़ीगत भूमिका को तत्काल बदले जाने की ज़रूरत है। नवीन पाठ्यचर्या पर आधारित इस विषयपत्र के माध्यम से यह अपेक्षा है कि प्रशिक्षित शिक्षक अपनी नयी भूमिका में बच्चों को उन स्थितियों को आलोचनात्मक तरीके से समझने में मदद करेंगे, जिनमें वे रहते हैं। बच्चे विभिन्न माध्यमों (पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक, शिक्षक, परिवेश इत्यादि) से दिये जाने वाले 'ज्ञान' को मात्र स्वीकार न करें बल्कि उनपर सवाल भी खड़े कर सकें।

ऐसी आदर्श शैक्षिक स्थिति का निर्माण एक सक्षम शिक्षक या शिक्षिका के माध्यम से ही हो सकता है, जिसकी तैयारी की आशा इस विषयपत्र के विभिन्न इकाइयों के विषयवस्तु के माध्यम से की गई है। प्रयास यह किया गया है कि प्रस्तुत पठन सामग्री, सरल, तथ्यात्मक रूप से सटीक, विषयवस्तु में निरन्तरता बनाए हुए हो। सेवापूर्व शिक्षक प्रशिक्षुओं से आशा है कि वे इस पाठ्यसामग्री के माध्यम से शिक्षा की समकालीन आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील हो सकेंगे।

अंत में, यह बात स्पष्ट करना जरूरी है कि इस पठन–सामग्री को आप अंतिम न मानें। इसके साथ–साथ, प्रारम्भिक स्तर की पाठ्यपुस्तकों और विभिन्न प्रकार की आई.सी.टी. सामग्रियों को भी अपने अध्ययन का हिस्सा अनिवार्य रूप से बनाएं। तभी आपकी समझ में खुलापन और जिज्ञासा बनी रह पाएगी, अन्यथा आपका विद्यालयीय शिक्षण का कार्य नीरस हो जाएगा। इस पठन सामग्री को और संवर्द्धित करने के लिए आपके सुझाव सदैव आमंत्रित हैं।

निदेशक

राज्य शिक्षा शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्,
बिहार

पाठ्य पुस्तक विकास समूह
पत्र–F-2
(बचपन और बाल विकास)

दिशाबोध	श्री दीपक कुमार सिंह, भा.प्र.से., अपर मुख्य सचिव, शिक्षा विभाग, बिहार, पटना श्री सज्जन राजसेकर, भा.प्र.से., निदेशक, राज्य शिक्षा शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, महेन्द्रू, बिहार, पटना डॉ० एस.पी.सिन्हा, सलाहकार, शिक्षा विभाग, बिहार, पटना
समन्वयक	डॉ० अर्चना, पूर्व विभाग प्रभारी, एस.सी.ई.आर.टी., पटना
लेखक समूह	डॉ. नमीता नारायण, महंत हनुमान शरण उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, राजापुर, मैनपुरा, पटना
	राहुल पटेल, उत्क्रमित मध्य विद्यालय, सहलादपुर, मांझा, गोपालगंज
	डॉ. प्रवीण कुमार सिंह, उच्च विद्यालय, अकौना, पुनपुन, पटना
	डॉ. प्रियंका सिंह, राजकीय बालक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, राजेंद्र नगर, पटना
समीक्षक	डॉ. मधु कुमारी, व्याख्याता, एस.सी.ई.आर.टी., पटना
	डॉ० मणिमाला, व्याख्याता, एस.सी.ई.आर.टी., पटना

पाठ–सूची

इकाई	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
1	बचपन व बाल–विकास की समझ	09 - 40
2	बच्चों का शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास	41 - 59
3	बच्चों में सृजनात्मकता	60 - 77
4	खेल और बाल–विकास	78 - 96
5	बच्चे और व्यक्तित्व विकास	97 - 123
6	संदर्भ सूची	124

इकाई 1

बचपन व बाल–विकास की समझ

परिचय

हम सभी के लिए बाल्यावस्था हमारे जीवन का अनोखा काल है। एक ऐसा काल जिसमें बालक में अनोखे परिवर्तन होते हैं। यह अवस्था वास्तव में हम सभी के जीवन का वह स्वर्णिम समय है, जिसमें बालक का सर्वांगीण विकास होता है। इस इकाई में हम बच्चे तथा बचपन की मनोसामाजिक अवधारणा, विकास की अवस्थाओं, उनमें होने वाले विभिन्न परिवर्तन, विकास को प्रभावित करने वाले कारक एवं बाल्यावस्था में परिवार पड़ोस स्कूल एवं शिक्षक की भूमिका के विषय में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

हम सब ने अपने आस–पास बच्चों को बड़े होते तथा बहुत कुछ सीखते हुए देखा है। पैदा होने के साथ ही उसको सीखते–बढ़ते हुए देखने में बहुत ही रोचक अनुभव होता है। हर दिन उनमें कुछ–न–कुछ बदलाव आता है। अगर हम किसी छोटे बच्चे को दो–तीन महीने के अन्तराल पर भी देखें तो पाते हैं कि पूर्व की अपेक्षा कुछ नए बदलाव आ गए हैं और उसने बहुत कुछ सीख भी लिया है। उसके आवाज, क्रीड़ात्मक कला, अपने–पराये की पहचान व अन्य कई गतिविधियों पर हो रहे परिवर्तन की सामान्य समझ होती है। हालांकि हर बच्चा अपने आप में अलग होता है, किन्तु बच्चों में होनेवाले परिवर्तनों में कुछ सामान्य क्रम व चरण पहचाने जा सकते हैं। यदि हम अपने आस–पास बड़े हो रहे कुछ विभिन्न उम्र के बच्चो द्वारा की जाने वाली क्रियाकलापों का सूक्ष्म अवलोकन कर उसका विश्लेषण करें, तो इस इकाई को समझने एवं एक अच्छा शिक्षक बनने में यह अनुभव बहुत उपयोगी रहेगा।

• बच्चे तथा बचपन : मनोसामाजिक अवधारणा

यदि हम अपने बचपन की स्मृतियों में झाँकते हैं, तो हमारा रोम–रोम खिल उठता है। यहॉ थोड़ी देर के लिए आप रूक जाइये व अपने बचपन की कुछ स्मृति–अवशेषों में खो जाईये। क्या आप रोमांचित हो गए.....? बिल्कुल हो गये होंगे। इसी का नाम बचपन है। बचपन में की गयी मस्तियाँ आपको ताउम्र याद रहती है। बचपन, खेलकूद, मौज मस्ती, स्वाभाविक प्रवृतियों का प्रकटीकरण एवं सुखवादी सिद्धान्त पर कार्य करने का नाम है। बचपन का अनुभव अपने आगे आने वाली विभिन्न अवस्थाओं के विकास हेतु आधार शिला का कार्य करता है। आपने इस कथन को अवश्य सुना होगा – ''पूत के पाँव पालने में ही देखे जाते हैं।'' बचपन एवं बाल्यावस्था के संदर्भ में कुछ प्रमुख मनोवैज्ञानिकों के विचार इस प्रकार है। बाल्यावस्था विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था है (फ्रायड), बच्चे स्वभाव से ज्ञानमीमांसु व वैज्ञानिक होते हैं, (ज्याँ पियाजे), ''बच्चा मनुष्य का पिता होता है ।'' (वुडवर्थ) आदि आदि...... । इन लोकोक्तियों व कथनों से आप आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानव के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बाल्यावस्था या बचपन की जो अवस्था है वह सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था है। वास्तव में बच्चा अपने परिस्थिति का राजा होता है। उसे अपनी परिस्थितियों पर हमेशा जीत पसंद है। उसे हार कतई पसंद नहीं होता है। यदि उसके बालपन का आदर किया जाय तो दुनिया का कोई भी लक्ष्य उसके लिए असंभव नहीं। एक सफल व प्रभावी अध्यापक बनने हेतु आपको बच्चे व बचपन से जुड़े अवधारणाओं व संप्रत्ययों को जानना होगा। बच्चे से यदि उसका बचपन आप छीन लेंगे तो उसके आगे की समस्त विकास प्रक्रिया अवरूद्ध हो जाएगी। बच्चे और बचपन की मनो–सामाजिक अवधारणा को समझने हेतु सिग्मंड फ्रायड, ऐरिक इरिक्सन, ज्याँ पियाजे, बैंडुरा, ब्रूनर इत्यादि मनो–वैज्ञानिकों के विचारों को समझना होगा। सिगमंड फ्रायड ने अपने मनोलैगिंक विकास सिद्धान्त में विकास की विभिन्न अवस्थाओं (मुखीय, गुदीय, लैंगिक, गुप्तीय तथा जननेन्द्रिय) के माध्यम से शैशवावस्था से लेकर किशोरावस्था का वर्णन किया है। गुदीयवस्था, लैंगिकवस्था व गुप्तीय अवस्था बचपन या बाल्यावस्था को इंगित करता है। एरिक इरिक्सन ने अपने मनो–सामाजिक विकास सिद्धान्त के माध्यम से मानव जीवन के विकास को समग्रता से देखने की कोशिश की है। इरिक्सन के सिद्धान्त में वर्णित द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ अवस्था बचपन/बाल्यावस्था से जुड़ा है। इस सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या आगे की गयी है, ताकि बचपन/बाल्यावस्था सहित मानव विकास की अन्य अवस्थाओं से आप रू–ब–रू हो सकें। ज्याँ–पियाजे ब्रूनर ने अपने संज्ञानात्मक विकास सिद्धान्त के माध्यम से भी बाल्यवस्था में होने वाले संज्ञानात्मक परिवर्तन/विकास का चित्रण किया है। बैंडुरा व वायगोत्सकी ने भी अपने सामाजिक व सांस्कृतिक अधिगम/विकास के सिद्धान्त के माध्यम से बचपन/बाल्यावस्था में होने वाली सीखने के प्रक्रिया की व्याख्या की है। इस सभी सिद्धान्तों को यदि आप अध्ययन करेंगे, तो आपका निष्कर्ष शायद यही होगा कि बचपन एक मनोसामाजिक स्थिति है। इस मनो–सामाजिक स्थिति को समझने में रबीन्द्रनाथ टैगोर की निम्नलिखित कहानी आपको मदद करेगी –

> ''जब मैं बच्चा था तो छोटी–छोटी चीजों से अपने खिलौने बनाने और अपनी कल्पना में नए–नए खेल ईजाद करने की मुझे पूरी आजादी थी। मेरी खुशी में मेरे साथियों का पूरा हिस्सा होता था। बल्कि मेरे खेलों का पूरा मजा उनके साथ खेलने पर निर्भर करता था। एक दिन हमारे बचपन के इस स्वर्ग में वयस्कों की बाजार–प्रधान

दुनिया से एक प्रलोभ ने प्रवेश किया। एक अंग्रेजी दुकान से खरीदा गया खिलौना हमारे एक साथी को दिया गया। वह कमाल का खिलौना था, बड़ा और मानो सजीव। हमारे साथी को उस खिलौना पर घमंड हो गया और अब उसका ध्यान हमारे खेलों में इतना नहीं लगता था, वह उस कीमती चीज को बहुत ध्यान से हमारी पहुँच से दूर रखता था, अपनी इस खास वस्तु पर इठलाता हुआ वह अपने अन्य साथियों से खुद को श्रेष्ठ समझता था, क्योंकि उनके खिलौने सस्ते थे। मैं निश्चित तौर पर कह सकता हूँ कि अगर वह इतिहास की आधुनिक भाषा का प्रयोग कर सकता, तो वह यही कहता कि वह उस हास्यास्पद रूप से श्रेष्ठ खिलौनें का स्वामी होने की हद तक हमसे अधिक सभ्य था।

अपनी उत्तेजना में वह एक चीज भूल गया – वह तथ्य जो उस वक्त उसे बहुत ही मामूली लगा था कि इस प्रलोभन में एक ऐसी चीज खो गई जो उसके खिलौने से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ थी, वह था एक श्रेष्ठ और पूर्ण बच्चा। उस खिलौने से महज उसका धन व्यक्त होता था, बच्चे की रचनात्मक उर्जा नहीं, न ही उसके खेल में बच्चे का आनन्द था और न ही उसके खेल की दुनिया में साथियों का खुला निमन्त्रण''

(रबीन्द्रनाथ टैगोर के निबंध सभ्यता और प्रगति से)

यह कहानी किसी भी बच्चे की मानसिक दशा को बखूबी चित्रित करता है। हम अपने आसपास के विभिन्न उम्र के बच्चों का यदि अध्ययन करें तो पायेंगे कि बच्चे को क्या पसंद हैं और क्या नहीं। आवश्यक रूप से आपको उनकी पसंदगी और नापसंदगी को उनके विकास के विभिन्न पायदानों तक पहुँचाने हेतु आधारभूत तत्व के रूप में मानना होगा।

उपरोक्त विवरणों से यह निश्कर्ष लगाया जा सकता है कि बच्चों में बचपन का होना एक सहज और सरल क्रिया है जिसमें उसकी भावनाएँ, अनुभव, आदत, तरीके सभी शामिल होते हैं। वास्तव में बालक ईश्वर की सृष्टि का सबसे निर्मल, पवित्र और निर्दोष सृजन है। वह जीवन के ताजा संस्करण के रूप में उभरता है। उसका अपना एक स्वतंत्र संसार है, अपनी इच्छाएँ–अनिच्छाएँ, रूचियां–अरूचियां, आवेग–संवेग, धारणाएं–कल्पनाएं, कौतूहल–कौतुक इत्यादि हैं। सृजनशीलता के अपने–अपने आयाम हैं। इसमें से किसी एक पर भी यदि बंधन लगाया जाए या इन्हें नियमों की पाबंदियों में जकड़ दिया जाए या हर गतिविधि पर पहरा बिठा दिया जाए तो बालक का स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता। यह तो एक प्रकार से उसके रोमांच की हत्या करने जैसी बात होगी।

हम बच्चों के बचपन से सम्बंधित वयस्कों की कई ऐसी अवधारणाओं का अवलोकन कर सकते हैं जो उनके बचपन को क्षति पहुंचाते हैं। यदि बच्चे की स्वाभाविक प्रवृति के साथ छेडछाड़ करते हैं। जैसे :–

(1) बड़े होकर क्या बनोगे? यह पूछकर हम अपनी इच्छा उसकी जुबान से सुनने की उम्मीद कर लगातार बचपन का हनन करते हैं।

(2) बच्चे को बचपन से ही उसके अभिभावक किशोर या युवा जैसे क्रियाकलाप की उम्मीद करने लगते हैं।

(3) स्कूल एवं घर में कड़े अनुशासन का पालन कर बच्चों को व्यवस्थित बनाने की कोशिश की जाती है।

(4) पड़ोस के बच्चों से अपने बच्चों के क्रियाकलाप का तुलनात्मक अध्ययन कर विभिन्न तरह से बच्चों की इच्छाओं का दमन किया जाता है।

(5) ''पढ़ोगे लिखोगे बनोगे नवाब, खेलोगे कूदोगे होगे खराब'' जैसे अनगिनत कहावत/लोकोक्ति सुनाकर बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रौंद दिया जाता है।

चूंकी परिवेश और परिस्थितियों में लगातार बदलाव हो रहा है। अतः इन अवधारणाओं को हम वयस्कों यथा शिक्षक, अभिभावक एवं समुदाय के सदस्यों को बदलने की आवश्यकता है। हमें बच्चों के बचपन को त्रुटिपात्र, कोरा कागज, खाली स्लेट, बेवकूफ प्राणी न मानकर एक सरल, बुद्धिमान, जिज्ञासु व स्वतंत्रता प्रिय प्राणी मानना चाहिए। हम बच्चों के बचपन को एक जश्न, उत्सव, पर्व इत्यादि के रूप में लें, उनपर अपनी सोच, इच्छा या बातों को न थोपें।

• बचपन को प्रभावित करने वाले मनोसामाजिक कारक

1. **यौन भिन्नता** (Sex Differences) - यौन भिन्नता का बच्चों के बचपन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बचपन के प्रांरभिक वर्षों में बच्चों के शारीरिक विकास में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं दिखता। बालक–बालिकाएं बड़े सहज रूप से एक–दूसरे के साथ खेलते–कूदते हैं। परन्तु इसी अवस्था में हम उनके यौन के आधार पर वस्त्र–विन्यास (पहनावा) के स्वरूप, खिलौने के प्रकार, वस्त्रों के रंग इत्यादि में बंटवारा कर उनके मन में एक अलग धारणा का निर्माण करना शुरू कर देते हैं। कुछ विद्यालयों में इसी अवस्था में अलग–अलग बैठने, खेलने, खाने–पीने की परम्परा शुरू कर दी जाती है। यद्यपि इस तरह के अलगाव से सबंधित बच्चों के मन में कई तरह के प्रश्न उभरते रहते हैं जो या तो अनुत्तरित रह जाता है या हमारे द्वारा डाँट–फटकार कर शांत करा दिया जाता है। इससे उनमें कुण्ठा, आत्म–विश्वास में कमी, भय एवं अलग रहने की प्रवृति इत्यादि घर कर जाती है।

2. **संस्कृति एवं परम्परा** (Culture and Tradition) - जिस परिवेश में जैसी संस्कृति व परम्परा का पालन वहाँ के लोग करते हैं, बच्चे स्वाभाविक रूप से उसका अनुकरण करने लगते है। बड़े–बुजुर्गों द्वारा किया गया पूजा–पाठ या घर–गृहस्थी से जुड़े अन्य क्रियाकलाप बच्चे सिर्फ देखकर ही सहज रूप में सीख लेते हैं। कुछ खास क्षेत्र में संस्कृति व परम्परा इतना प्रभावी होता है कि बच्चों के बचपन में ही उनके दायित्व का निर्धारण कर दिया जाता है। जहां पितृसत्तात्मक परिवार में आगे बढ़ने के लिए लड़कों को ज्यादा सुविधा दी जाती है और लड़कियों को अनेक रूढ़ीवादी परम्परा के दायरे में रहने को विवश कर दिया जाता है वही मातृसत्तात्मक परिवार की अवधारणा उलट होती है।

3. **सामाजिक पिछड़ापन** (Social Backwardness) - कभी–कभी हमारा समाज विभिन्न कारणों से पिछड़ जाता है जिसमें आर्थिक व शैक्षिक आधार मुख्य कारण हो सकता है। आर्थिक–शैक्षिक आधार पर पिछड़े समाज में कई वर्ग स्वाभाविक रूप से उभर जाते हैं। इन वर्गों के भौतिक संसाधन भी अलग–अलग होते हैं और मनोरंजन के

तरीके भी। जहाँ आर्थिक सामाजिक आधार पर सम्पन्न परिवार के बच्चों का बचपन कम्प्यूटर, विडियो गेम, महंगे खिलौने, ब्रांडेड कपड़े (वस्त्र) इत्यादि सुविधाओं से युक्त होता है, वहीं पिछड़े वर्ग के बच्चों का बचपन पतंगबाजी, कबड्डी, गिल्ली–डंडा, कंचा, मछली पकड़ना पक्षी मारना, चूहे मारना, गिलहरी पकड़ने इत्यादि क्रियाकलापों में गुजरता है। इन्हीं क्रियाओं में उनका मनोरंजन भी हो जाता है और जीवकोपार्जन भी। इस प्रकार के सामाजिक पिछड़ापन के प्रभाव का सूक्ष्म अवलोकन करने पर पता चलता है कि जहाँ आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवार के बच्चे मानसिक रूप से ज्यादा ताकतवर होते हैं वहीं पिछड़े वर्ग के बच्चे शारीरिक रूप से ज्यादा मजबूत होते हैं। वे साइकिल चलाना, पेड़ पर चढ़ना, तैरना, कूदना इत्यादि क्रिया आसानी से कर लेते हैं और कोई भी जोखिम उठाने के लिए सदा तैयार रहते हैं।

4. **पारिवारिक वातावरण** (Environment of Family) - हम देखते आए हैं कि परिवार ही वह पहली संस्था है जहाँ बच्चे सबसे पहले इस दुनिया के सम्पर्क में आते हैं। घरेलू परिस्थिति में बच्चा माता–पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया करके सामाजिक अनुभूतियाँ प्राप्त करता है, जिनका उसके कक्षा में की जाने वाली अन्तःक्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। यह एक सकारात्मक तथ्य है कि परिवार के सतत् सहयोग व प्रोत्साहन से बच्चों में ठोस अवधारणा बनती है, जल्दी सीखते हैं और उनका बचपन आनंददायी हो जाता है।

   हमारे समाज में जहाँ परिवारों के कई प्रकार देखने को मिलते है वहीं सबका अपना अलग वातावरण भी होता है। जहाँ संयुक्त परिवार में पलने वाले बच्चों का बचपन काफी आनंददायी होता है, दादा–दादी, चाचा–चाची, चचेरे भाई–बहन के साथ बच्चों का सर्वांगीण विकास आसान होता है, वहीं एकल परिवार के बच्चे का बचपन दादा–दादी के स्नेह, चाचा–चाची के प्यार आदि से अछूता रहता है, जिससे उसका समुचित विकास भी नहीं हो पाता और बचपन का वास्तविक आनंद भी नहीं ले पाता। तलाकशुदा माँ–बाप के बच्चे, सौतेले माँ या पिता अथवा अशिक्षित दंपति के बच्चों का बचपन किस–किस तरह से प्रभावित होता है, हम आसानी से देख सकते हैं।

5. **प्रजातीय भिन्नता** (Racial Differences) - समाज के कई वर्ग के बच्चों के शारीरिक बनावट में प्रजातीय भिन्नता या विशिष्टता स्पष्ट दिखाई देता है। केश विन्यास, (Hair Style) होठों की बनावट, आँखों का रंग, त्वचा का रंग, शारीरिक ढाँचा में अगर बचपन में ही प्रजातीय भिन्नता दिखे तो वह अन्य सामान्य बच्चे के साथ बड़ी आसानी से नहीं घुल–मिल पाता या उसका मित्र समूह के साथ समायोजन में कठिनाई होता है। उसमें एकाकीपन या अन्तर्मुखी होने की संभावना बन जाती है।

6. **विद्यालयी वातावरण** (Environment of School) - परिवार रूपी छोटे समूह और अपने घर जैसे छोटे मकान से बच्चे जैसे ही विद्यालय रूपी बड़े परिवार या एक बड़े भवन से जुड़ता है, उसके क्रियाकलाप में व्यापक बदलाव देखने को मिलता है। स्कूल प्रशासन को बच्चों को कड़े अनुशासन में रहने का सख्त निर्देश, अन्य शिक्षकों का सख्त व्यवहार, पक्षपात रवैया बचपन को उल्लास पूर्ण बनने में बाधा पहुँचाते हैं। परम्परागत दोषपूर्ण मूल्यांकन प्रणाली का विश्लेषण जब बच्चे अपने स्तर से करते हैं, तो उनमें कुंठा, निराशा, आत्मविश्वास में कमी जैसी धारणाएं बननी शुरू हो जाती है।

इस उम्र में बच्चों लिए विद्यालयी वातावरण बाल केन्द्रित हो और उसमें मोंटेसरी, फ्रोबेल, गिजुभाई, एवं रवीन्द्र नाथ जैसे शिक्षाविदों की कल्पना के गुण समाहित हों।

7. **समकक्षी / समवय समूह** (Peer Group) - बच्चों के जीवन में समकक्षी समवय समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता है, समूह का भाग बनता है। ऐसे समूह बच्चे की कई महत्त्वपूर्ण संवेगात्मक आवश्यकताएं पूरी करते है। खासतौर से उत्तर बाल्यावस्था में पहुँचते ही बच्चे अपने क्रियाकलाप यथा–ब्रश करना, जूते पहनना, वस्त्र पहनना स्वयं शुरू कर देते हैं। समवय समूह एक तरीके से उसे अपना संसार फैलाने में सहायता करता है। कभी–कभी समवय समूह बच्चों को अनुचित व्यवहार की दिशा में भी ले जाते हैं। जैसे छोटी–मोटी चोरी करना, उग्र भाव प्रदर्शित करना, इच्छा पूर्ति हेतु जिद करना इत्यादि।

8. **वातावरण** (Environment) - बच्चों के समुचित शारीरिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि उसके परिवार, समाज तथा विद्यालय का वातावरण अनुकूल होना चाहिए। शुद्ध वायु, समुचित प्रकाश तथा प्रदूषण से मुक्त वातावरण में शारीरिक, मानसिक व संवेगात्मक विकास सही दिशा में होता है। इसके विपरीत अशुद्ध वायु, अपर्याप्त रौशनी एवं प्रदूषित वातावरण में पलने वाले बच्चे कुपोषित तथा संक्रामक एवं असंक्रामक रोगों से ग्रसित हो सकते है।

   यद्यपि ऐसा भी देखा जाता है कि प्रतिकूल वातावरण में पलने वाले बच्चों के शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immune System) तुलनात्मक रूप से ज्यादा मजबूत होते है।

9. **विज्ञापन / जनसंचार माध्यम** (Advertisement/Mass Media) - बच्चों के बचपन पर विज्ञापनों का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। आजकल कई विज्ञापनों को आवश्यकता से ज्यादा ही बढ़ा–चढ़ा कर दिखाया जाता है। कुछ प्राईवेट विद्यालयों के भवन, संसाधन, वाहन, टाई–बैज व खुबसूरत पोशाक से युक्त बच्चों की तस्वीरें कहीं–न–कहीं आर्थिक–शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के बच्चों के अंदर निराशा व उसे न पाने की खीझ पैदा करता है। अधिगम प्रक्रिया पर संचार माध्यमों का सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही प्रभाव पड़ता है। यदि इसका प्रभावशाली तरीके से उपयोग किया जाए तो सृजनशीलता को प्रोत्साहन मिलता है और बच्चे जल्दी सीखते हैं। परन्तु यह विचारणीय है कि आजकल संचार माध्यमों में प्रायः लिंग, जाति, धार्मिक, रूढ़िवादिता, हिंसा और समृद्धि का विकृत दिखावा तथा उपभोक्तावाद को ही प्रदर्शित किया जाता है। हिंसा भरे चलचित्रों का बच्चों पर प्रतिकूल असर पड़ता है। लगातार टेलीविजन देखने के स्पष्ट प्रतिकूल प्रभाव हैं, जैसे आँखों में तनाव, निष्क्रियता, आलस्य इत्यादि। अतः यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि बच्चे को जिस सामग्री के प्रति उन्मुख किया जा रहा है उससे उसके संतुलित विकास में सहायता मिले और किसी प्रकार का दूषित प्रभाव न पड़े। वास्तव में संचार के सभी माध्यम बचपन को बहुत हद तक प्रभावित करते हैं। जिसके फलस्वरूप उनका बचपन कहीं–न–कहीं खो जाता है तथा समय से पहले वे प्रौढ़ता की ओर अग्रसर भी हो जाते हैं।

मनुष्य के जन्म से लेकर किशोरावस्था के अंत तक उनमें होने वाले जैविक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों को कहते हैं, जब वे धीरे–धीरे निर्भरता से और अधिक स्वायत्तता की ओर बढ़ते हैं। आगे हम बाल–विकास के अर्थ,प्रकृति और अवधारणा को विस्तार से जानेंगे।

• बाल–विकास – अर्थ, प्रकृति एवं अवधारणा

'विकास' शब्द का अर्थ है – "व्यवस्थित और संगतिपूर्ण तरीके से परिवर्तनों का एक प्रगतिशील श्रृंखला में होना"। यह प्रक्रिया व्यक्ति की उन सभी शारीरिक और व्यावहारिक विशेषताओं में परिवर्तन को इंगित करता है, जो क्रमानुसार उभरते हैं और प्रगतिशीलता का द्योतक है। विकास शब्द उन परिवर्तनों से सम्बंधित है, जो मनुष्यों में जन्म से लेकर मृत्यु तक होते हैं। परंतु यह शब्द सभी परिवर्तनों पर नहीं लागू होता है। यह केवल उन परिवर्तनों की ओर इंगित करता है जो व्यवस्थित तरीकों से दिखाई देते हैं और पर्याप्त समयावधि तक रहते हैं। ये परिवर्तन जीवन के एक निश्चित समय में होते हैं और जीवन का एक अंग बन जाते हैं।

विकास के संदर्भ में क्रमबद्धता एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इससे तात्पर्य है कि विकास एक क्रम में होता है। विकास का प्रत्येक चरण पहले चरण के विकास पर आधारित होता है। हम देखते हैं कि बच्चे घुटनों पर चल पाने के बाद ही पैरों पर चल पाते हैं और चलने के बाद ही दौड़ना सीखते हैं। इसी प्रकार हम वयस्कों की जटिल परिस्थिति को संभालने की योग्यता बचपन में सरल कार्य करने की क्षमता से ही आती है। इस प्रकार विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति अधिक सरलता और सामर्थ्य से कार्य करना सीखता है। 'प्रगतिशीलता' शब्द का तात्पर्य है कि इन परिवर्तनों की वजह से बच्चे को ऐसे कौशल व क्षमताएँ प्राप्त होती है, जो पहले के कौशलों से अधिक जटिल और अधिक प्रभावशाली है। इसको समझने के लिए बच्चों का घुटने के बल चलने से लेकर पैरों पर चलने तक के विकास पर विचार कीजिए। ठीक से चलने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चा सीधा खड़ा होकर और संतुलन बनाकर एक पैर के बाद दूसरा पैर रखे। इसके लिए मांसपेशियों में अधिक समन्वय की आवश्यकता होती है और इसलिए यह घुटनों पर चलने से अधिक जटिल है। ऐसे और भी बहुत उदाहरण हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि विकास का एक कदम दूसरे कदम का आधार बनता है।

बाल–विकास से संबंधित इन परिवर्त्तनों का अध्ययन 'विकासात्मक मनोविज्ञान' के अंतर्गत करते हैं। बाल–विकास, 'विकासात्मक मनोविज्ञान' की ही एक प्रयुक्त शाखा है, जिसमें उन परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है जो जीवन के प्रथम दो दशकों के दौरान होते हैं, (बर्क, 2006)। इसमें मुख्यतः बच्चों के रूप, व्यवहार, रूचिओं, और लक्ष्यों में होने वाले उन विशिष्ट परिवर्तनों की खोज पर बल दिया जाता है जो उसके एक विकासात्मक अवस्था से दूसरी विकासात्मक अवस्था में प्रवेश करते समय होते हैं। साथ–ही–साथ यह खोजने का भी प्रयास किया जाता है कि यह परिवर्तन कब होते हैं, किन परिस्थितियों में होते हैं, इसके क्या कारण हैं, ये परिवर्तन बच्चों के व्यवहार को किस प्रकार प्रभावित करते हैं एवं क्या यह वैयक्तिक है या सार्वभौमिक है? यह अध्ययन क्षेत्र न केवल बच्चों के व्यवहार के सभी पक्षों को समझने में सहायता प्रदान करता है, बल्कि उनके व्यवहारगत परिवर्तन की प्रक्रिया एवं उससे जुड़े सभी प्रश्नों के उत्तर देने का भी प्रयास करता है।

पूर्व में बच्चों के व्यवहार का अध्ययन 'बाल मनोविज्ञान' के संदर्भ में ही किया जाता था, और इसकी विषय–वस्तु मुख्यतः बाल्यावस्था में होने वाले व्यावहारिक परिवर्तनों तक ही सीमित थी। इस का प्रमुख ध्येय प्रत्येक बच्चे के विशिष्ट आचरण को समझना था, किन्तु बाल–विकास का अध्ययन उन पहलुओं पर ध्यान देने के लिए है जो सामान्यतौर पर बच्चों के विकास में सामने आते हैं। इस दृष्टिकोण से बाल मनोविज्ञान एक संकीर्ण अवधारणा है जबकि बाल–विकास एक समग्र एवं व्यापक अवधारणा है। यही कारण है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'बाल मनोविज्ञान' के स्थान पर 'बाल–विकास' शब्द का प्रयोग करते हैं।

बाल–विकास विषय का स्वरूप, स्वयं भी विकसित होता रहा है। इसमें दार्शनिक सांस्कृतिक व सामाजिक पहलुओं व उनकी समझ में आए परिवर्तन का प्रभाव रहा है। शुरू में बाल–विकास को मात्र जैविक विकास के रूप में देखा जाता था। यानि विकसित होता हुआ मानवीय बच्चा धीरे–धीरे उम्र के अनुसार परिपक्व होता जाएगा। उस का विकास अनुवांशिक गुणों पर ही आधारित होगा।

धीरे–धीरे 1950 में व्यवहारवादी दृष्टिकोण उभरा। यह मानता था कि पर्यावरणीय कारक विकास की प्रक्रिया में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस विचारधारा के अनुसार विकसित हो रहे प्राणी (इंसान भी) को प्रशिक्षण द्वारा अपेक्षित व्यवहार के लिए तैयार किया जा सकता है।

व्यवहार वाद विचार में ऐसा प्रतीत होने लगा कि पर्यावरणीय कारक ही मात्र महत्त्वपूर्ण हैं। संज्ञानात्मक विचारधारा ने इस बात पर पुनः जोर दिया कि विकास में जैविक व अनुवांशिक कारकों की भी भूमिका होती है। व्यवहार से निकाले गए निष्कर्षों के विपरित इस विचारधारा के निष्कर्ष थे। बच्चों की अपने विकास में अहम भूमिका तो होती ही है और साथ में यह भी है कि सभी गुण छोटी उम्र में ही नहीं हासिल किए जा सकते।

संज्ञानात्मक विचारधारा के मानने वालों को यह अहसास बढ़ने लगा कि विकास के लिए बच्चे की भूमिका के साथ–साथ सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ की भी भूमिका है। इसमें सीखने को उस सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ के आलोक में ही देखा जाय जिसमें वह बच्चा बड़ा हो रहा है। एक मायने में सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में, यह शिक्षक की भूमिका के महत्व को भी रेखांकित करता है और उसके स्वरूप की दिशा को भी इंगित करता है।

बाल–विकास का क्षेत्र

बाल–विकास के क्षेत्र में गर्भधारण अवस्था से युवावस्था तक के मानव की सभी व्यवहार सम्बन्धी समस्याएँ सम्मिलित हैं। इस अवस्था के सभी मानव व्यवहार सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन में विकासात्मक दृष्टिकोण मुख्य रूप से अपनाया जाता है। इन अध्ययनों में मुख्य रूप से इस बात पर बल दिया जाता है कि विभिन्न विकास अवस्थाओं में कौन–कौन से क्रमिक परिवर्तन होते हैं, ये परिवर्तन किन कारणों से, कब और क्यों होते हैं, इत्यादि। बाल–विकास का क्षेत्र दिन–प्रतिदिन बढ़ रहा है। बाल–विकास विषय के क्षेत्र के अन्तर्गत जिन समस्याओं अथवा विषय सामग्री का अध्ययन किया जाता है वह निम्न प्रकार की हो सकती है –

वातावरण और बालक– बाल–विकास में इस समस्या के अन्तर्गत दो प्रकार की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। प्रथम यह कि बालक का वातावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है?

द्वितीय यह कि वातावरण बालक के व्यवहार, व्यक्तित्व तथा शारीरिक विकास इत्यादि को किस प्रकार प्रभावित करता है? अतः स्पष्ट है कि बालक का पर्यावरण एक विशेष प्रभावकारी क्षेत्र है।

बालकों की वैयक्तिक भिन्नताओं का अध्ययन – बाल–विकास में वैयक्तिक भिन्नताओं तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन भी किया जाता हैं। व्यक्तिगत भेदों की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्यों का अध्ययन किया जाता है – शरीर रचना सम्बन्धी भेद, मानसिक योग्यता सम्बन्धी भेद, सांवेगिक भेद, व्यक्तित्व सम्बन्धी भेद, सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी भेद तथा भाषा विकास सम्बन्धी भेद इत्यादि।

मानसिक प्रक्रियाएँ – बाल–विकास में बालक की विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन भी किया जाता है जैसे – प्रत्यक्षीकरण, सीखना, कल्पना, स्मृति, चिन्तन, साहचर्य इत्यादि। इन सभी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन दो समस्याओं के रूप में किया जाता है – प्रथम यह कि विभिन्न आयु स्तरों पर बालक की यह विभिन्न मानसिक प्रक्रियाएँ किस रूप में पाई जाती है, इनकी क्या गति है आदि। द्वितीय यह कि इन मानसिक प्रक्रियाओं का विकास कैसे होता है तथा इनके विकास को कौन से कारक प्रभावित करते हैं।

बालक–बालिकाओं का मापन – बाल–विकास के क्षेत्र में बालकों की विभिन्न मानसिक और शारीरिक विकास के मापन तथा मूल्याकंन से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन भी किया जाता है। मापन से तात्पर्य है कि इन क्षेत्रों में उसकी समस्याएं क्या है और उनका निराकरण कैसे किया जा सकता है।

बाल व्यवहार और अन्तःक्रियाएँ – बाल–विकास के अध्ययन क्षेत्र में अनेक प्रकार की अन्तःक्रियाओं का अध्ययन भी होता है। बालक का व्यवहार गतिशील होता है तथा उसकी विभिन्न शारीरिक और मानसिक योग्यताओ और विशेषताओं में क्रमिक विकास होता रहता है। अतः स्वाभाविक है कि बालक और उसके वातावरण में समय–समय पर अन्तःक्रियाएँ होती रहें। एक बालक की ये अन्तःक्रियाएँ सहयोग, व्यवस्थापन, सामाजिक संगठन या संघर्ष, तनाव और विरोधी प्रकार की भी हो सकती है। बाल–मनोविज्ञान में इस समस्या का भी अध्ययन होता है कि विभिन्न विकास अवस्थाओं में बालक की विभिन्न अन्तःक्रियाओं में कौन–कौन से और क्या–क्या क्रमिक परिवर्तन होते हैं तथा इन परिवर्तनों की गतिशीलता किस प्रकार की है?

समायोजन सम्बन्धी समस्याएँ– बाल–विकास में बालक के विभिन्न प्रकार की समायोजन समस्याओं का अध्ययन भी किया जाता है। साथ ही इस समस्या का अध्ययन भी किया जाता है कि भिन्न–भिन्न समायोजन क्षेत्रों (पारिवारिक समायोजन, संवेगात्मक समायोजन, शैक्षिक समायोजन, स्वास्थ्य समायोजन इत्यादि) में भिन्न–भिन्न आयु स्तरों पर बालक का क्या और किस प्रकार का समायोजन है। इस क्षेत्र में कुसमायोजित व्यवहार का भी अध्ययन किया जाता है।

विशिष्ट बालकों का अध्ययन– जब बालक की शारीरिक और मानसिक योग्यताओं और विशेषताओं का विकास दोषपूर्ण ढंग से होता है तो बालक के व्यवहार और व्यक्तित्व में असमान्यता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। बाल–विकास में इन विभिन्न असमानताओं व इनके कारणों और गतिशीलता का अध्ययन होता है। विशिष्ट बालक की श्रेणी में निम्न

बालक आते हैं – शारीरिक रूप से अस्वस्थ रहने वाले बालक, पिछड़े बालक, अपराधी बालक एवं समस्यात्मक बालक इत्यादि।

अभिभावक बालक सम्बन्ध– बालक के व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अभिवावकों और परिवार की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अभिभावक–बालक सम्बन्ध का विकास, अभिभावक, बालक संबंधों के निर्धारक, पारिवारिक संबंधों में ह्रास इत्यादि समस्याओं का अध्ययन बाल–विकास मनोविज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत किया जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि गर्भावस्था से किशोरावस्था तक बच्चो की सभी समस्याएँ बाल–विकास की परिसीमा या क्षेत्र में आती हैं।

• विकास के विभिन्न आयाम (Various domains of Development)

अक्सर, हम या हमारे बड़े जाने–अनजाने एक बच्चे की तुलना अन्य बच्चों के साथ करते रहते हैं। कई बार आपने अपने आस–पड़ोस के लोगों को यह भी कहते सुना होगा कि अमुख बच्चा पढ़ने में कितना होशियार है, अमुख बच्चा कितना व्यवहार–कुशल है, आदि, और इस आधार पर किसी अन्य बच्चे को भी वैसा ही बनने के लिए प्रेरित भी करते रहते हैं। पर क्या इस दौरान हम यह समझते हैं कि हर बच्चा अपने आप में अलग है, उसकी अपनी कुछ विशिष्ट योग्यताएँ व क्षमतायें होती हैं। बाल व्यवहार कई प्रकार के होते हैं, उनके विविध आयाम होते हैं तथा उन व्यवहारों की अपनी अलग विशेषताएं होती हैं। कभी–कभी कुछ बाल व्यवहार इतने विशिष्ट होते हैं कि उनको तुरन्त समझना मुश्किल होता है। माता–पिता या अभिभावक बच्चों के किसी व्यवहार को एक स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं परन्तु, एक शिक्षक के लिए बच्चों के उन व्यवहारों के विकास को समग्रता में समझना आवश्यक है। इसलिए इस खण्ड में बाल–विकास के प्रमुख आयामों को दिया गया है।

यह स्पष्ट है कि विकास का अर्थ केवल शरीर के अंग–प्रत्यगों का बढ़कर एक निश्चित आकार लेना ही नहीं, अपितु, इसमें शारीरिक विकास के साथ–साथ संवेगात्मक, नैतिक, संज्ञानात्मक व सामाजिक विकास जैसे परिवर्तन भी शामिल हैं, यथा– रहन–सहन में, भाषा विकास में, अनुभूति और सोचने के तौर तरीकों में। इस प्रकार विकास, परिवर्तन की समग्र प्रक्रिया है। इसमें विकास के विभिन्न पहलूओं में परस्पर सम्बन्ध भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिए– 13–14 साल के बच्चों के शरीर में जो भौतिक और जैविक परिवर्तन होते हैं, उसका सम्बंध उसके संज्ञानात्मक, सामाजिक और संवेगात्मक विकास के साथ भी होता है। आईए विकास के कुछ प्रमुख आयामों से परिचित होते हैं। इन आयामों के विषय में विस्तृत चर्चा आगे के इकाईयों में दी गई है।

- **शारीरिक विकास (Physical Developement) -** बच्चे के सम्पूर्ण विकास का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है – शारीरिक विकास। बच्चे के शारीरिक विकास का उसके व्यक्तित्व विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कहा गया है कि 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन निवास करता है'। बच्चे के विकास की प्रक्रिया गर्भाधान से ही प्रारम्भ हो जाती है और वह भ्रूण से गर्भस्थ शिशु के रुप में परिपक्वता की ओर बढ़ने लगती है। इस प्रकार शारीरिक वृद्धि एक निरन्तर क्रमबद्ध प्रक्रिया से होती रहती है। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रुप से बच्चे का शारीरिक विकास यह तय करता है कि उसमें किस प्रकार के कार्यों को करने की

क्षमता अन्तर्निहित है, यथा – अपने साथियों के साथ खेलकूद की समस्त गतिविधियों में भाग लेने की क्षमता शारीरिक विकास से अत्यधिक सहसम्बन्धित है। बच्चे का शैक्षिक विकास और व्यावहारिक ज्ञान उसके शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास से प्रभावित होता है। शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास परस्पर सम्बन्धित हैं। शारीरिक विकास का तात्पर्य सिर्फ शरीर के स्वस्थ होने तक ही सीमित नही है, बल्कि इसका विशेष अर्थ है, अपने शरीर व स्वास्थ्य के प्रति सजग होना। प्रत्येक बच्चा शारीरिक रूप से दूसरे बच्चे से भिन्न होता है। बच्चे की इस विभिन्नता के कारणों को समझने पर शिक्षक बच्चों के साथ अधिक संवेदनशीलता से काम कर सकता है।

- **संवेगात्मक विकास (Emotional Development) -** बच्चे में सम्पूर्ण विकास में उसके संवेगात्मक विकास का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जन्म के पश्चात बच्चा अपने परिवार के सम्पर्क में आता है। परिवार द्वारा लालन–पालन के दौरान उसको स्नेह व अपनापन मिलता है और इस अपनेपन से उसके अन्दर सुरक्षा की भावना पैदा होती है। माँ की गोद में बच्चा स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है। फलस्वरूप उसमें इस प्रकार सुरक्षा की भावना जन्म लेती है। भावनाओं का प्रकटीकरण संवेगों द्वारा होता है जैसे – माँ को देखकर मुस्कुराना व अन्जान को देखकर रोना, खिलौना देने पर बच्चे का हंसना और खिलौना छीन लेने पर उसका रोना। आयु एवं अनुभव के साथ–साथ संवेगों की आवृत्ति में भी अन्तर दिखाई देता है। संवेगात्मक विकास का संबंध सिर्फ परिवार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि बच्चे में संवेग का विकास विद्यालयी परिवेश में भी होता रहता है और उसमें शिक्षक की विशेष भूमिका होती है।

- **नैतिक विकास (Moral Development) -** नैतिक विकास का सामान्य अर्थ सही या गलत का विश्लेषण करने की क्षमता के विकास से है। हमारी सोच, व्यवहार और भावनाओं में सही या गलत का बदलाव नैतिक विकास में आता है। जैसे– एक व्यक्ति नैतिक निर्णय लेते समय कौन से तर्क या वितर्कों को ध्यान में रखता है? व्यक्ति नैतिक परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करता है? नैतिक मुद्दों के बारे में लोग क्या सोचते हैं? क्या है जो एक व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व को बनाने के लिए जिम्मेदार होता है? बच्चों में नैतिकता (morality) आरंभ से ही देखने को मिलती है। एक शिक्षक के लिए बच्चों में होने वाले नैतिक विकास की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है, ताकि उनके विद्यालयी अवधि के दौरान उनमें अपेक्षित गुणों का विकास किया जा सके।

- **संज्ञानात्मक विकास (Cognitive Development) -** एक शिक्षक या शिक्षिका के रूप में क्या कभी आपने यह जानने कि कोशिश की है कि बच्चे कैसे सोचते हैं, कैसे वह संसार का अनुभव करते है और किस प्रकार उसके मन में विचार जन्म लेते हैं? हम प्रायः देखते हैं कि बच्चे अनजान वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थितियों के बारे में समझने का प्रयास करते हैं। कक्षा में आपने यह भी महसूस किया होगा कि विभिन्न आयु–वर्ग के बच्चे एक ही प्रश्न का भिन्न–भिन्न उत्तर देते हैं। इन प्रश्नों को समझने के लिए उनके तरीके भी अलग–अलग होते हैं और उनके द्वारा दिये गए तर्क भी। निश्चित रूप से ऐसा इसलिए होता है क्योंकि बच्चों में आयु के साथ–साथ उसकी मानसिक शक्तियां और मानसिक प्रक्रियाएं विकसित होती हैं, जिसे हम संज्ञानात्मक विकास कहते हैं। सामान्य अर्थ में संज्ञानात्मक विकास तार्किक व नवीन विचारों के अर्थ समझना एवं समस्या समाधान जैसे मानसिक व बौद्धिक प्रक्रिया का क्रमिक विकास है। संज्ञानात्मक योग्यता में वृद्धि के

कारण ही बच्चों के व्यवहार में समय के साथ परिवर्तन आता रहता है। वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करने में भी संज्ञान की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है।

- **सामाजिक विकास (Social Development)** – मानव एक सामाजिक प्राणी है। जन्मोपरान्त शिशु का शारीरिक एवं मानसिक विकास उत्तरोत्तर होता जाता है। माता–पिता, भाई–बहन, संगी–साथियों एवं सामाजिक संस्थाओं के प्रभाव से उसका समाजीकरण होता है, जिसके फलस्वरूप उसका सामाजिक विकास होता है। यह विकास स्थायी न होकर समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार सामाजिक विकास का अभिप्राय समाज में प्राप्त किये जानेवाले अनुभवों के अनुरूप बच्चों में होने वाले विकास से है।

बच्चों के विकास को व्यवस्थित ढंग से समझने के उद्देश्य से सामान्यतया उसका वर्णन आयु के विभिन्न काल खंडों के संदर्भ में किया जाता है। बाल–विकास के संदर्भ में सबसे अधिक उपयोग किया जाने वाला वर्गीकरण, उसे इन काल खंडों की क्रमिक श्रृंखला के रूप में देखता है। गर्भावस्था जन्म के पहले का काल, शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्था।

विकास की अवस्थाएं

मानव विकास की अवस्थाओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में परस्पर मतभेद है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न–भिन्न ढंग से जीवन काल को वर्गीकृत किया है। वर्त्तमान समय में अधिकतर मनोवैज्ञानिक सहमत होकर मानव विकास का अध्ययन मुख्यतः चार अवस्थाओं के अंतर्गत करते हैं जो हैं – शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और प्रौढावस्था।

शैक्षणिक दृष्टि से मानव विकास की इन अवस्थाओं में प्रथम तीन अवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

क्र. सं.	वृद्धि और विकास की अवस्था	अनुमानित आयु तथा अवधि
1.	**शैशवावस्था** (Infancy)	जन्म से 2 वर्ष तक
2.	**बाल्यावस्था** (Childhood)	2 वर्ष से 12 वर्ष तक
3.	**किशोरावस्था** (Adolescence)	12 वर्ष से 18–19 वर्ष तक
4.	**प्रौढावस्था** (Adulthood)	20 वर्ष से 60 वर्ष तक
5.	**वृद्धावस्था** (Old Age)	लगभग 60 वर्ष से मृत्यु तक

शैशवावस्था (Infancy)

जन्म से लेकर लगभग 18 से 24 माह की आयु तक के विकास काल खंड को शैशवावस्था कहते हैं। यह अवस्था बालक के निर्माण काल के रूप में जानी जाती है। यह पूरी तरह से बड़ों पर निर्भरता का दौर होता है। शैशवावस्था अनेक मनोवैज्ञानिक गतिविधियों के प्रारंभ होने का भी समय है, जैसे – बोलने की क्षमता, इंद्रियों के अनुभवों और शारीरिक क्रियाओं में तालमेल बिठाना, प्रतीकों का उपयोग करते हुए सूचना और दूसरों की नकल करके उसे सीखना। जन्मोपरांत अन्य अवस्थाओं की तुलना में इस अवस्था में सबसे तीव्र गति से वृद्धि

और विकास होता है। बालक की कुशलतायें और योग्यताएं कई गुना बढ़ती है। शैशवावस्था के अंत तक वह चलने, दौड़ने और शब्दों द्वारा अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करने योग्य हो जाता है, स्वयं खा सकता है, परिवार के सदस्यों व स्वयं को पहचानने लगता है और जाने पहचाने माहौल में आत्मविश्वास से घूमने लगता है। इस अवस्था में बच्चे चलना, दौड़ना, शब्दों के माध्यम से अपनी आवश्यकताओं को बताना इत्यादि चीजें कर पाते हैं। परिवार के सदस्यों की पहचान कर सकते हैं, आत्मविश्वासी हो जाते हैं। शैशवावस्था तीव्र विकास की अवस्था होती है।

बाल्यावस्था (Childhood)

2 से 12 वर्ष के बीच की अवस्था बाल्यावस्था होती है। इस अवस्था में विकास शैशवावस्था जितना तीव्र नहीं होता है। बाल्यावस्था में बालिका शैशवावस्था के दौरान प्राप्त कुशलताओं में अपनी निपुणता बढ़ाती है तथा नए कौशल भी सिखती है। यही समय है जब शरीर के अंगों का समन्वय सुधरता है। बाल्यावस्था के दौरान बालिका व्यवहार के वे ढंग भी सीखती है, जो समाज में मान्य है। बालिका परिवार के अलावा अन्य कई बाहरी लोगों से मिलती है और उनसे लगाव बढ़ाती है। जैसे–जैसे बालिका बड़ी होती है और उसके सोचने की क्षमतायें परिपक्व होती हैं, तो उसे यह एहसास होता है कि वह बहुत कुछ कर सकती है। वह झूले में स्वयं झूल सकती है, रेत में घर बना सकती है, चित्र बनाकर उसमें रंग भर सकती है और गाना गा सकती है। स्वयं कर पाना उसे आत्मविश्वास की भावना प्रदान करता है। चाहे इस काल में वह काफी स्वावलंबी हो जाती है, फिर भी बालिका के लिए वयस्कों का मार्गदर्शन निरंतर आवश्यक होता है। बाल्यावस्था का समय जो अवस्थाओं में विभाजित है।

प्रारंभिक बाल्यावस्था (2 से 6 वर्ष)

प्रारंभिक बाल्यावस्था यह अवस्था 2 से 6 वर्ष तक की आयु तक चलती है। प्रारंभिक बाल्यावस्था का समय विद्यालय पूर्व समय भी कहलाता है। इस अवस्था में होने वाले प्रमुख विकास निम्नलिखित हैं –

शारीरिक विकास– प्रारंभिक बाल्यावस्था में बालक एवं बालिकाओं के शरीर के अंगों में परिवर्तन आना प्रारंभ हो जाता है, जैसे – शरीर के आकार में परिवर्तन आना, वजन में परिवर्तन आना, शरीर की मांसपेशियां अधिक गठीली और मजबूत हो जाना इत्यादि। प्रारंभिक बाल्यावस्था की समाप्ति तक बालकों में कुछ स्थाई दाँत उग आते हैं।

भाषा विकास– इस अवस्था में भाषाई विकास तीव्र गति से होता है बालक बोलना सीखने के लिए काफी प्रेरित रहते हैं। इस अवस्था में बालक अभ्यास द्वारा शब्दों का उच्चारण करना, शब्दावली बनाना तथा वाक्य बनाकर बोलना सीख जाते हैं।

संवेगात्मक विकास– प्रारंभिक बाल्यावस्था में बालकों में सामान्य तौर पर वही संवेग देखने को मिलते हैं जो एक सामान्य व्यस्क में देखने को मिलते हैं। व्यस्को में और बालकों में दिखने वाले संवेगों की केवल अभिव्यक्ति में अंतर होता है। इन संवेग में क्रोध, डर, इर्ष्या, उत्सुकता, खुशी, दुःख, प्रेम इत्यादि मुख्य होते हैं। इस अवस्था में बालक अपना क्रोध रोकर, किसी सामान को फेंक कर, चीख मारकर व्यक्त करते हैं। डर के संवेग में बालक

कुछ विशेष अनुक्रिया करते हैं, जैसे – भाग जाना, अपने आप को छुपा लेना आदि। अपनी उत्सुकता को शांत करने के लिए वह तरह–तरह के प्रश्न करते हैं। ईर्ष्या हो जाने पर अगर कोई सामान दूसरे बालक के पास है, तो वैसा ही सामान पाने के लिए अपनी चीजों की बुराई करने लगते हैं, जैसे – मेरी पेंसिल खराब है, यह ड्रेस पुरानी हो गई है आदि। हर्ष होने पर अपने संवेगों को ताली बजाकर, उछल कूद कर प्रदर्शित करते हैं। दुख की स्थिति में भोजन न करना, खेल में रुचि ना दिखाना आदि व्यवहार करते हैं।

सामाजिक विकास– इस अवस्था में बालक सामाजिक संपर्क स्थापित करते हैं। अपनी उम्र के बालकों से मित्रता करना सीखते हैं। हमउम्र बालकों के साथ खेलना और बातचीत करने में बालकों को प्रसन्नता होती है। इस अवस्था में जहां एक ओर बालकों में कुछ विशेष सामाजिक व्यवहार देखने को मिलता है जैसे सहयोग, सहानुभूति, मित्रता, अनुकरण करना, निर्भरता इत्यादि। वही दूसरी ओर बालकों में कुछ असामाजिक व्यवहार भी देखने को मिलता है जैसे आक्रामकता, लड़ाई–झगड़ा करना, दूसरे को चिढाना, डराना इत्यादि।

मानसिक विकास तथा संज्ञानात्मक विकास– प्रारंभिक बाल्यावस्था में बालकों में मानसिक विकास काफी तेज गति से होता है तथा बालकों में बौद्धिक क्षमता बढ़ जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप बालकों में अपने आसपास की चीजों और घटनाओं को समझने की शक्ति भी बढ़ जाती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जीन पियाजे के अनुसार संप्रत्यय विकास की अवस्था चिंतन की प्राक परिचालन अवस्था है। इस अवस्था में बालकों का चिंतन तर्कसंगत नहीं होता है। सब बालकों में इस अवस्था में जीवन, मृत्यु, भार, संख्या, दूरी, समय, इत्यादि के बारे में एक संप्रत्यय विकसित करने की क्षमता का विकास हो जाता है। इस अवस्था में बालक क्या, क्यों, कैसे और कहां वाले प्रश्नों को लगातार पूछता रहता है। बालक में जीवन–मृत्यु के प्रत्यय का विकास तो हो जाता है, किंतु यह प्रत्यय अभी अस्पष्ट होता है। अतः बालक इस अवस्था में निर्जीव वस्तुओं को जैसे खिलौना, चलता हुआ पंखा, चलती हुई कार को जीवित समझ लेता है।

उत्तर बाल्यावस्था (6 से 12 वर्ष)

उत्तर बाल्यावस्था यह अवस्था 6 से 12 वर्ष तक की आयु तक चलती है। शिक्षकों द्वारा इस अवस्था को प्रारंभिक स्कूल अवस्था तथा मनोवैज्ञानिकों के द्वारा टोली अवस्था के नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि इस अवस्था में बालक स्कूल में औपचारिक शिक्षा के लिए जाना शुरु कर देते हैं तथा अब उनका अपने समूह के अन्य सदस्यों के द्वारा स्वीकृत किया जाना उनके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। इस अवस्था में होने वाले प्रमुख विकास निम्नलिखित है–

शारीरिक विकास– इस अवस्था में शारीरिक विकास में अधिक स्पष्टता आ जाती है। इस अवस्था में बालकों की ऊंचाई में औसतन 2 से 3 इंच की वृद्धि होती है तथा शरीर का वजन भी 3 से 5 पौंड तक औसतन प्रतिवर्ष बढ़ता है। इस अवस्था की समाप्ति तक बालकों में 32 स्थाई दांत में से 28 स्थाई दांत निकल आते है। शेष चार स्थाई दांत किशोरावस्था में निकलते हैं।

भाषा विकास– इस अवस्था में बालकों में भाषा विकास अधिक तीव्र गति से होता है इस अवस्था के बालकों में शब्दावली निर्माण में वृद्धि हो जाती है। बालक शिक्षकों से बात

करके, अन्य लोगों से बात करके, पुस्तकें पढ़कर, अखबार पढ़कर, टेलीविजन देखकर अपनी शब्दावली पर्याप्त मात्रा में बढ़ा लेते हैं। उनके उच्चारण में भी शुद्धता आती है तथा बालक प्रायः जटिल वाक्यों का प्रयोग करना शुरू कर देते हैं।

सांवेगिक विकास– इस अवस्था में बालकों में भी वही सभी संवेग पाए जाते हैं जो प्रारंभिक बाल्यावस्था के बालकों में पाए जाते हैं, परंतु अभिव्यक्ति का तरीका प्रारंभिक बाल्यावस्था के बालको से भिन्न होता है। इस अवस्था में बालक यह जान जाता है कि सामाजिक रूप से बहिष्कृत संवेग की अभिव्यक्ति से उसे सामाजिक अनुमोदन नहीं मिलेगा। अतः बालक ऐसे संबंधों की अभिव्यक्ति नहीं करता है जो सामाजिक रूप से बहिष्कृत हो, जैसे – बात–बात पर क्रोध करना, रो देना, किसी से डर कर भाग जाना इत्यादि। इस अवस्था में बालक में क्रोध किसी विशेष अवस्था में ही उत्पन्न होता है, जैसे – यदि बालक पर कोई झूठा आरोप लगाया जाए या बेवजह कोई टीका टिप्पणी की जाए। इस प्रकार जहाँ प्रारंभिक बाल्यावस्था के बालकों में किसी भी नई चीज को देखकर उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है, वही इस अवस्था के बालकों में केवल उन्हीं चीजों के प्रति उत्सुकता उत्पन्न होती है जो उनके लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं।

सामाजिक विकास– जैसे कि हम पहले भी अध्ययन कर चुके हैं कि इस अवस्था को टोली अवस्था भी कहा जाता है। इस अवस्था की विशेष बात यह है कि इस अवस्था में बालक हमउम्र बालकों के साथ टोली बनाकर रहना पसंद करता है। टोली में रहते हुए बालक का समाजीकरण होता है। बालक टोली में रहते हुए अनेक बातें सीखता है जैसे किसी कार्य का उत्तरदायित्व लेना, प्रतियोगिता में भाग लेना, किसी कार्य में सहयोग करना, बालक में सामाजिक समझ का विकसित होना इत्यादि। कभी–कभी बालकों को टोली का नकारात्मक प्रभाव भी पड़ जाता है और ऐसी स्थिति में बालक टोली द्वारा निर्धारित मूल्यों एवं मानकों को सर्वोपरि मानते हुए अपने माता–पिता के द्वारा निर्धारित मूल्यों एवं मानकों को ही अस्वीकृत कर देता है।

मानसिक विकास तथा संज्ञानात्मक विकास– इस अवस्था में बालक मानसिक रूप से प्रारंभिक बाल्यावस्था की तुलना में अधिक विकसित हो जाते हैं। इस अवस्था में बालकों में लगभग 90% तक मानसिक विकास पूरा हो जाता है। पियाजे के अनुसार इस अवस्था में बालक चिंतन के मूर्त परिचालन की अवस्था तक पहुँच जाता है। इस अवस्था में बालक पहले सीखे गए संप्रत्यय को और अधिक स्पष्ट मजबूत और मूर्त बनाता है। अब बालकों का चिंतन पहले से अधिकत तर्कसंगत हो जाता है, जैसे – बालक यह समझने लगता है कि 1 फीट में 12 इंच होते हैं तथा 12 इंच का 1 फीट होता है। जीवन–मृत्यु का प्रत्यय भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। अतः बालक जीवित एवं अजीवित वस्तुओं में सार्थक अंतर करने लगता है। उनमें मुद्रा संबंधी प्रत्यय भी विकसित हो जाते हैं। बालक में दिन, तारीख व माह ठीक–ठीक बता सकने की क्षमता विकसित हो जाती है। इस अवस्था में बालक जो भी स्कूल में सीखते हैं, जो भी अनुभव रेडियो से सुनने, टेलीविजन से देखने, अखबार पढ़ने से, चलचित्र देखने से प्राप्त करते हैं, उससे नए ढंग से अर्थ निकालना शुरू कर देते हैं क्योंकि इस उम्र में बालक ऐसे कौशल सीखते है जो भविष्य में शिक्षा से संबंधित कार्यों में उसकी मदद करेंगे। विद्यालय पूर्व उम्र की बालिका प्रायः आसपास की वस्तुओं व लोगों के बारे में प्रश्न पूछती है। वह अंको, रंगो तथा आकारों के बारे में सीखती है। वह प्रतिदिन की घटनाओं के कारणों के बारे में समझने लगती है। इन सभी संकल्पनाओं का विकास वस्तुओं

को वास्तविक रूप में देखने और विविध कार्यकलाप करने से ही होता है। किसी कार्य को सीखने के लिए उसे करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काल में बालिका मित्र बनाना सीखती है और लोगों से संबंधों को महत्व देने लगती है।

इस अवस्था में बच्चों की कल्पना शक्ति बहुत तेजी से बढ़ती है और उनकी यह कल्पना शक्ति खेल में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनकी रुचि ऐसे लोगों, खेलों में होती है जिनमें उन्हें नाटक या अनुकरण करना है। इस उम्र के बच्चे देर तक एकसाथ नहीं खेल सकते। कुछ समय बाद वे फिर अपने–अपने खेल खेलने लगते हैं, चाहे वे एक साथ ही बैठे हो। 6 से 12 वर्ष की आयु वर्ग की बालिका अधिक परिपक्व हो जाती हैं और विद्यालय पूर्व बालिका की अपेक्षा उससे अधिक जिम्मेदारीपूर्ण व्यवहार की आशा की जाती है। बालक/बालिका के प्रति माता–पिता की आशाएं भी बढ़ती हैं। संभव है वह कुछ कार्यों के लिए घर से बाहर निकलने लगे और स्वयं पाठशाला भी जाने लगे। उत्तर बाल्यावस्था वह समय है, जब बालक/बालिका उन कौशलों को सीखने में संलग्न हो जाती है, जो भविष्य में व्यवसाय चुनने में उसकी मदद करते हैं। बालक/बालिका की जानकारी क्षेत्र तेजी से बढ़ती है। उसकी विचार शक्ति का विकास होता है और बाहर की दुनिया में रुचि तीव्रता से बढ़ती है। इस अवस्था में हमउम्र बच्चों के साथ बालक/बालिका के संबंध अधिक सक्रिय हो जाते हैं। खेलों में उनका आपसी सहयोग बढ़ता है और इसी कारण वे खेल के नियमों का पालन भी कर पाते हैं। सामूहिक खेल खेलना इस समय के विकास का परिणाम है।

किशोरावस्था (Adolescence)

अगली अवस्था किशोरावस्था है जो 12 से लगभग 18–19 वर्ष होती है। इसके परिणामस्वरुप ऊँचाई और वजन तेजी से बढ़ता है। मनोवैज्ञानिकों ने माना है कि किशोरावस्था वह समय है जिसमें विकासशील व्यक्ति बाल्यावस्था से परिपक्वता की ओर अग्रसर होता है या कह सकते हैं कि किशोरावस्था व्यक्ति के जीवन में वह काल है, जो बाल्यावस्था के अंत में प्रारंभ होता है और प्रौढ़ावस्था के आरंभ में समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में देशप्रेम, जाति प्रेम तथा विश्वप्रेम की भावना प्रबल होती है। किशोरावस्था में व्यक्ति की अनेक रुचियां विकसित होती हैं, परिवर्तनों की गति तीव्र होती है जिसके चलते समाज के सदस्यों के साथ समायोजित करने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इसी अवस्था में धार्मिक भावना भी प्रबल होती है और कभी–कभी धर्म के प्रति संदेह भी उत्पन्न होता है।

इस अवस्था को बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था का स्थानांतरण काल भी कहा जाता है। इस अवस्था के दौरान बालक अपनी अधिकतम लंबाई को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त सभी आंतरिक अंग व प्रणालियां पूर्ण आकार को प्राप्त कर लेती हैं तथा यौन प्रवृत्ति भी परिपक्व हो जाती है। बालिकाओं में किशोरावस्था के लक्षण बालकों की तुलना में जल्दी दिखाई देने लगते हैं। किशोरावस्था में बालक–बालिकाओं में सूक्ष्म चिंतन की योग्यता का विकास हो जाता है। इस अवस्था में तनाव व द्वंद उत्पन्न होते हैं, जिसके कारण मनोवैज्ञानिक कठिनाइयां उत्पन्न होना आम बात है।

एरिक्सन के अनुसार मानव विकास की प्रत्येक अवस्था में मानवीय प्रवृत्ति या कठिनाइयों व द्वंद के बीच में संघर्ष करती है। अतः सामान्य स्वस्थ विकास के लिए प्रत्येक अवस्था में व्यक्तिगत संपर्क रखना अर्थात्, उनसे बातचीत करते रहना आवश्यक है। बाल्यावस्था से किशोरावस्था में स्थानांतरण के मध्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पहचान बनाने के लिए विभिन्न

भूमिकाओं को अपने व्यक्तित्व में समाहित करना होता है, यदि ऐसा करने में असफल हो जाते हैं तो अपनी पहचान को लेकर उनमें भ्रांति उत्पन्न हो जाती है और भ्रम की अवस्था का अनुभव करने लगते हैं। वास्तव में किशोरावस्था ही इस समय के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है सही अर्थों में यह तनाव, कठिनाई व तूफान की अवस्था है जो जीवन में दुविधापूर्ण परिस्थितियां लाती हैं।

स्टैनली हॉल ने किशोरावस्था को आंधी और तूफान की अवस्था कहा है। जीवन के इस काल में एक बालक या बालिका के लिए अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि अपने अस्तित्व की अनिश्चितता बहुत से संघर्ष उत्पन्न करती है। यह एक माना हुआ सत्य है कि किशोरावस्था में अपराध की दर बढ़ जाती है। किशोरों में आत्महत्या की प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है। इस समय नशीली दवाओं आदि का सेवन करना प्रारंभ कर देते हैं। इससे वे आनंद का अनुभव करते हैं। किशोरावस्था एक ऐसा पड़ाव है, जिसमें किशोरों को अपने भविष्य की योजना बनानी होती है तथा जीवन दर्शन को आकार देना होता है, तब विपरीत लिंगीय आकर्षण सरलता से हो जाता है तथा बाधा भी उत्पन्न करता है। किशोरावस्था के दौरान होने वाले परिवर्तन शारीरिक और सामाजिक दोनों ही तरह के होते हैं।

किशोरावस्था का प्रारंभ लड़के और लड़कियों के शारीरिक परिवर्तन के रूप में दिखाई देता है। वास्तविकता यह है कि यौवन अवस्था से पूर्व इस अवस्था के लक्षण तेजी से दिखाई देने लगते हैं। लड़कियों में यह लक्षण 9 से 12 वर्ष की आयु में और लड़कों में 11 से 13 वर्ष की आयु के मध्य दिखाई पड़ने लगते हैं । इस काल के दौरान या कुछ समय बाद ही अन्य लैंगिक विशेषताएं उत्पन्न होने लगती है। बालिकाओं में कूल्हों का गोलीय आकार लेना, वक्षस्थल का विकसित होना, मासिक धर्म का आरंभ हो जाना जैसी विशेषताएं दिखने लगती हैं। बालकों में कुछ विशेषताएं दिखती हैं जो यौवनारम्भ का संकेत देती है जैसे चेहरे पर बाल और दाढ़ी–मूछ, आवाज में भारीपन आना, शरीर गठीला होना इत्यादि परिवर्तन होते हैं।

बालक व बालिकाओं दोनों में किशोरावस्था में सामाजिक परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। कुछ कारक जैसे– जब किशोर घर छोड़ता है, नौकरी पाता है और अपना वोट निश्चित करता है, यह तय करता है कि इनका विकास बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था में समाप्त हो जाता है। शारीरिक परिवर्तन व भटकाव बहुत–सी समस्याएं उत्पन्न कर सकते हैं। समाज भी किशोरों के लिए अनेक समस्याएं उत्पन्न करता है। पारिवारिक ढांचे और सामाजिक अपेक्षाओं के मानकों में भिन्नता के कारण पश्चिमी सभ्यता के बालक पूर्वी सभ्यता के बालकों का व्यवहार अलग होता है।

किशोरावस्था का अनुकूलतम विकास शैशवावस्था व बाल्यावस्था के विकास पर निर्भर करता है। एक युवा के लिए किशोरावस्था में स्थानांतरण कितना सरल हो पायेगा वह उस व्यक्ति पर निर्भर करता है। आंशिक तौर पर कुछ वातावरणीय सहयोगी कारकों या अवरोधों पर निर्भर करता है या कभी उनके अनुभवों पर भी आधारित होता है। उनमें से कुछ कारकों का मूल्यांकन निम्नलिखित है –

1. **परिवर्तन की गति** – किशोरावस्था में परिवर्तन बहुत तीव्र गति से होता है। किसी भी अन्य अवस्था में व्यक्ति में परिवर्तन इतने कम समय में अचानक से नहीं होते हैं।

2. **परिवर्तन का अंतराल** – जो तेजी से परिपक्व (शारीरिक वृद्धि के संदर्भ में) होते हैं वे समायोजन में कठिनाई का अनुभव करते हैं। वह वयस्कों के भांति समान व्यवहार की अपेक्षा करते हैं क्योंकि वे उन्हीं के समान दिखाई पड़ते हैं। दूसरी तरफ दीर्घकालीन किशोरावस्था भी समस्याएं उत्पन्न करती हैं। किशोरों में दूसरे पर निर्भरता की आदत होती है और इस समस्या से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है।

3. **प्रशिक्षण में अनिरंतरता** – प्रशिक्षण में देरी के कारण किशोरावस्था में बहुत अधिक तनाव व बोझ रहता है। उदाहरण के लिए किशोरावस्था में उत्तरदायित्व की धारणा होना कठिन है, क्योंकि बच्चे को आत्मनिर्भरता व मिलने जुलने का प्रशिक्षण देर से दिया जाता है अर्थात्, उसे छोटा समझ कर वैसा ही व्यवहार किया जाता है।

4. **निर्भरता की श्रेणी** – कोई बालक अथवा बालिका दूसरों पर कितना निर्भर है यह इस बात पर आधारित है कि उसे बाल्यावस्था में किस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त हुआ है। माता–पिता अक्सर अपने बच्चों को आत्मनिर्भर नहीं बनने देते हैं, क्योंकि वह ऐसा अनुभव करते हैं कि उनके बालक व बालिकाएं अपने व्यवहार के लिए जिम्मेदारी उठाने योग्य नहीं हो पाए हैं।

5. **अस्पष्ट स्थिति** – भारतीय समाज में एक बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने माता–पिता के पद चिह्नों पर चलेगा। यह उसे व्यवहार के प्रतिमान का अनुकरण करना सिखाता है। इसके विपरीत खुले माहौल में यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिए अपना पाठ्यक्रम चुनने के लिए स्वतंत्र हो।

6. **परस्पर विरोधी माँगे**– किशोर अक्सर माता–पिता शिक्षक साथी व समुदाय में विरोधी मांगों को लेकर उलझ जाते हैं। उनके समझ में नहीं आता कि वह किसके प्रति क्या व्यवहार करें।

7. **यथार्थवाद का अंश**– जब एक किशोर वयस्क के रूप में नजर आने लगे, उसे थोड़ी स्वतंत्रता दे दी जाती है। यदि उसे यह अहसास होता है कि वह वयस्क की जिम्मेदारी उठाने के लिए मानसिक अथवा शारीरिक तौर पर तैयार नहीं है तो वह असंतुष्ट हो जाता है ।

8. **अभिप्रेरणा**– किशोरावस्था में अक्सर बच्चों को अंदाजा नहीं होता है कि वह किन समस्याओं का सामना अपनी जिंदगी में करने वाला है। वे बड़ा तो होना चाहते हैं पर वयस्कता की चुनौतियों से घबराते हैं और ये असुरक्षा उसे वयस्क होने के लिए प्रेरित नहीं करता।

नीचे दी गयी सारणी के अनुसार आप विकास की विभिन्न अवस्थाओं को उनकी विशेषताओं के अनुरूप क्रमबद्ध रूप से जान पाएंगे –

अवस्थाएँ	आयुवर्ग	विशेषता
1. **शैशवावस्था (Infancy)**	जन्म से 2 वर्ष तक	➢ तीव्र विकास की अवस्था। ➢ बड़ों पर निर्भरता की अवस्था। ➢ गतिविधियों के प्रारंभ होने की अवस्था जैसे– बोलने की क्षमता, शारीरिक क्रियाओं

		में तालमेल बिठाने की क्षमता, इंद्रियों द्वारा अनुभव करने की क्षमता इत्यादि का विकास होना।
2. पूर्व बाल्यावस्था (Early Childhood)	2 वर्ष से 6 वर्ष	➢ भाषायी विकास का तीव्र गति से होना। ➢ कल्पना शक्ति का विकास होना। ➢ अकेले खेलना पसंद करना।
3. उत्तर बाल्यावस्था (Later Childhood)	6 से 12 वर्ष तक	➢ विचार शक्ति का विकास होना। ➢ सामाजिकता का विकास होना जैसे– मित्र बनाना, समूह में खेलना। ➢ नैतिक विकास जैसे– अनुशासन एवं नियमों का महत्व समझना एवं उनका पालन करना। ➢ जिम्मेदारी उठाने की तत्परता में विकास होना। ➢ पेशीय कौशल का विकास होना।
4. किशोरावस्था (Adolescence)	12 से 18 वर्ष तक	➢ शारीरिक विकास में तीव्रता आना ➢ यौन परिपक्वता ➢ अमूर्त चिन्तन ➢ तीव्र संवेगात्मक परिवर्तन ➢ स्वतंत्रता एवं विद्रोह की भावना ➢ भूमिकाओं एवं दायित्व का निर्वहन।

यह सवाल भी महत्त्वपूर्ण है कि क्या बाल–विकास की इस अवधारणा को हमेशा से ऐसे ही समझा जाता रहा है या फिर इस अवधारणा में भी समयानुसार कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। यदि इस अवधारणा के विकास को देखें तो हमें पता चलेगा कि शैक्षिक मनोविज्ञान में समय–समय पर विकसित होनेवाली विभिन्न सिद्धांतों के मान्यताओं के अनुरूप ही बाल–विकास की अवधारणा को समझने का दायरा भी विकसित हुआ। बाल–विकास के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इस अवधारणा के विकास से सम्बंधित कुछ प्रमुख मान्यताओं से भी परिचित हो जाया जाए।

नीचे दी गयी सारणी में कुछ प्रमुख मान्यताओं का विवरण उनके विकास के क्रम में दिया गया है।

विकास से संबंधित प्रमुख मान्यताएं	प्रमुख बिन्दु	प्रमुख प्रतिपादक

जैविक परिपक्वता से संबंधित मान्यताएं	इसके अनुसार विकास मुख्यतः अनुवांशिकता से प्रभावित होता है एवं हमारा व्यवहार प्राकृतिक नियमों द्वारा तय होता है।	जी. स्टैनले हल एवं अर्नाल्ड गेसेल
व्यवहारवादी सिद्धांत के अंतर्गत मान्यताएं	इस विचारधारा के अनुसार बाह्य कारकों को विकास में काफी महत्त्वपूर्ण माना गया। यह व्यवहारवादियों का ही मत है कि वातावरणीय उद्दीपक–प्रतिक्रिया संबंधों द्वारा हम बच्चों के व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन ला सकते हैं।	जॉन बी. वाटसन और बी.एफ. स्किनर
संज्ञानात्मक विकास के सिद्धांत के अंतर्गत मान्यताएं	इसके अनुसार विकास में बच्चों की अपनी एक अहम भूमिका होती है। ज्ञानात्मक क्षमताएँ जैसे–कल्पना, तर्क, विचारशक्ति इत्यादि बच्चे को सीखने में मदद करती हैं और यथा अनुसार उनके विकास को प्रभावित करती हैं।	ज्याँ पियाजे
सामाजिक–सांस्कृतिक विकास के सिद्धांत के अंतर्गत मान्यताएं	मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह सबसे नवीन विचारधारा है जो विकास की तीन पक्षों की बात करता हैः सीखना एक सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया है; सीखना सार्थक और उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं में हिस्सेदारी से होता है और समय के साथ सामाजिक–सांस्कृतिक बदलाव विकास एवं सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।	लेव वायगोत्सकी

विकास के इन मान्यताओं से अवगत होने के बाद यह विचार करें कि इनमें से किन मान्यताओं के समीप आप अपनी मान्यता को पाते हैं। यह भी पता लगाएं कि इन मान्यताओं के प्रति हमारे समाज में क्या धारणाएं हैं। हमारे परिवार, आस–पास के लोगों व समुदाय की मनोवृति बाल–विकास के विषय में क्या है।

प्रायः सभी बच्चों का गर्भकालीन विकास समान रुप से चलता है, लेकिन विकास के क्रम में उनमें दिन– प्रतिदिन एक–दूसरे से भिन्नता दिखाई देने लगती है। इन भिन्नताओं का प्रभाव उनकी व्यवहार प्रणाली पर पड़ता है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण दो व्यक्तियों के शारीरिक और मानसिक रचनाओं में बहुत कुछ समानता होते हुए भी वे एक–दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। इस तरह बच्चे अपना जीवन जैविक आधार से प्रारम्भ करते हैं और सामाजिक वातावरण में बड़े होते हैं। इन तथ्यों के आधार पर ही यह प्रश्न उठते हैं कि व्यक्तियों के

शारीरिक तथा मानसिक गुणों में पाई जाने वाली समानता को कौन–कौन से तत्व प्रभावित करते हैं, जो उन्हें एक दूसरे से अलग करते हैं। इन प्रश्नों के आधार पर ही विकास के संदर्भ में कई वर्षों से कई मतों पर बहस चल रही है, जिनमें से अहम मत निम्नांकित हैं –

- विकास के संदर्भ में आनुवांशिकता, परिवेश एंव पालन–पोषण का क्या–क्या योगदान है?
- विकास एक धीमी और निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है अथवा अचानक होने वाले तीव्र परिवर्तन?

परिवेश एवं पालन पोषण से विकास किस तरह प्रभावित होता है, उसे हम विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा दिए गए तर्कों व इस पर हुए अध्ययनों से समझने का प्रयास करते हैं। आनुवांशिकता के पक्षधर इस बात पर जोर देते हैं कि विकास में आनुवांशिक कारक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आनुवांशिक कारकों का अर्थ है कि ''व्यक्ति में माता–पिता से प्राप्त विशिष्ट गुणों या लक्षणों से है।'' जैसे आपने कई बार अपने आस–पास के लोगों से यह कहते सुना होगा कि अमुक लड़की बहुत बुद्धिमान है क्योंकि उसके परिवार में सभी बहुत बुद्धिमान हैं। यदि हम इस पक्ष को मानें तो बच्चे किन्हीं क्षमताओं को लेकर पैदा होते हैं, जैसे – देखने, सुनने, स्वाद, सूँघने, मांसपेशियों पर नियंत्रण इत्यादि ये क्षमताएं स्पष्ट दिखाई देती हैं। साथ–ही कुछ ऐसी क्षमताएं भी होती है जो सीखने तथा परिवेश के साथ अन्तःक्रिया कर संसार को समझने में मदद करती हैं। इस बात को हम एक उदाहरण से समझने की कोशिश करते हैं। एक शिशु अपनी प्रारम्भिक अवस्था में विभिन्न भाषा ध्वनियों जैसे बा/पा, रा/ला में अन्तर कर पाता है तथा किसी भी भाषा को बोलने में जो स्वर और व्यंजन काम में आते हैं उन्हें भी वह प्रयोग में ले पाता हैं। इसी तरह वाक्यों की संरचना भी समझते हैं और उसे सही क्रम में बोलने लगते हैं। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बच्चों में जन्म से ही कुछ ऐसी क्षमताएं पाई जाती हैं जो उन्हें भाषा सीखने में मदद करती हैं। अगर ये क्षमताएं नहीं होती तो बच्चा इतनी जल्दी व अच्छे तरीके से भाषा के नियम जो जटिल हैं, नहीं सीख पाता।

बच्चों के विकास में परिवेश की भूमिका को प्रमुखता देनेवाले मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि विकास में परिवेश (पालन–पोषण के तरीके, प्रेमपूर्ण रिश्ते, आहार, परिवार, स्कूल, मित्र, स्वास्थ्य की देखभाल) ही समस्त नए प्रकार के सीखे गए व्यवहार, क्रियाओं और कौशलों के लिए उत्तरदायी होता है। भाषा, आदतें, रूचियां, परम्पराएं, कौशलों एवं अन्य योग्यताओं का विकास परिवेश से ही होता है। उदाहरण के तौर पर कई बार यह कहा जाता है कि वह बहुत दब्बू या अंतर्मुखी हैं क्योंकि इसका पालन पोषण इसी माहौल में हुआ है। आनुवांशिक संरचना के बावजूद बिहार की किसी गाँव में पला हुआ बच्चा और बिहार के किसी शहर में पला हुआ बच्चा दोनों के कौशल संसार के बारे में सोचने के ढंग और लोगों के साथ व्यवहार करने के तरीकों में काफी फर्क होने की संभावना है।

जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा बच्चे किन्हीं क्षमताओं को लेकर पैदा होते हैं और इनके होने से वे अपेक्षित समय पर परिपक्वता को प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन सिर्फ ऐसा ही होता तो हम परिवेश में होने वाले बदलावों के प्रति सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते। यदि इसे दूसरे पक्ष के नजरिए से देखें यानि कि प्रकृति पर हम बहुत ज्यादा निर्भर न हों तो हम परिवेश

में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों के साथ आसानी से सामंजस्य स्थापित कर पाएंगे। चूंकी मानव परिवेश में बहुत ही भिन्नताएं एवं जटिलताएं होती हैं, इसलिए हमें यह समझना होगा कि दोनों ही कारक हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

बच्चों के विकास पर उसकी जन्मजात विशेषताओं अर्थात्, आनुवंशिकता/प्रकृति का प्रभाव पड़ता है अथवा जन्म के बाद उसको मिलने वाले वातावरण या पोषण का। वास्तव में देखा जाए तो आनुवांशिकता और वातावरण दोनों ही परस्पर एक–दूसरे के पूरक हैं, दोनों का महत्व सापेक्षिक है। बच्चे के व्यक्तित्व का निर्माण किसी एक शक्ति के द्वारा बिलकुल सम्भव नहीं। वह तो वंश परम्परा एवं वातावरण दोनों के सहयोग से ही विकसित हो सकता है। वुडवर्थ के अनुसार वंशानुक्रम व वातावरण का संबंध बीज और धरती के समान है। यदि बीज खराब व धरती अच्छी हो या धरती खराब व बीज अच्छा हो तो उत्तम खेती असम्भव है। अच्छी पैदावार के लिए दोनों का ही उत्तम होना अनिवार्य है।

एक और मुद्दा जिस पर कई बर्षों से बहस चल रही है, कि विकास को निरंतरता व चरणबद्ध के तौर पर समझा जाए या आकस्मिक तौर पर होनेवाले किसी परिवर्तन के रूप में। जो निरंतरता के पक्षधर है उनका यह मानना है कि विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, इसमें धीरे–धीरे व्यवहार, कौशलों और ज्ञान का संग्रहण (accumulation) होता है, इसमें विकास बहुत ही सरल एवं क्रमिक होता है, जिसमें कोई भी बदलाव पुरानी क्षमताओं के आधार पर होता है। जैसे, ''किसी बच्चे का पहला शब्द बोलना'' देखने में एक अचानक होने वाली घटना लगती है। परन्तु वह वास्तव में हफ्ता और महीनों से हो रहे विकास और अभ्यास का परिणाम होता है। किशोरावस्था का आगमन जो एक अन्य अचानक ढंग से होने वाली घटना प्रतीत होती है, वास्तव में कई वर्षों से चल रही प्रक्रिया होती है।

इसके विपरीत जो दूसरे मत के पक्षधर हैं, वे विकास को चरण आधारित मानते हैं। इनका मानना है कि व्यवहार या कौशल में परिवर्तन भिन्न चरणों में गुणात्मक रूप से होता है न कि मात्रात्मक रूप में और नए व्यवहार कौशलों एवं ज्ञान का सीखना अचानक से हो जाता है। विकास की अवस्था इसका प्रमुख आधार है। उदाहरण – पियाजे के अनुसार 7 से 11 साल के बच्चे का सोचना मूर्तरूप से होता है। इसके विपरीत किशोरावस्था में सोचना अमूर्त रूप से होता है।

सिगलर (1998) ने दोनों मत पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहा कि विकास की प्रक्रिया निरंतर या झटकों से होगी वह इस बात पर निर्भर करता है कि हम विकास को किस रूप में देखते हैं।

उदाहरण के तौर पर जब हम व्यवहार में आने वाले परिवर्तनों को बड़े अंतराल में (जैसे, वर्षों में) या फिर विभिन्न उम्र के बच्चों में (जैसे, 4 साल और 8 साल) तब ऐसी स्थितियों में विकास विभिन्न चरणों में लगेगा। ऐसे ही यदि हम व्यवहार में आने वाले परिवर्तनों को छोटे–छोटे अंतराल में देखते हैं तो हमें विकास निरंतर प्रक्रिया लगेगा।

विकास के सिद्धांत

हमने विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं उन अवस्थाओं की विशेषताओं के बारे में भी जानकारी प्राप्त की। आइए अब हम विकास के सिद्धांत को समझने का प्रयास करें।

अध्ययनों ने सिद्ध कर दिया है कि ये परिवर्त्तन निश्चित सिद्धांतों के अनुसार होते हैं। इन्हीं को विकास का सिद्धांत कहा जाता है। विकास के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं –

1. **सतत् विकास का सिद्धांत** – सतत् विकास का सिद्धांत मानव–विकास का प्रमुख सिद्धांत है, क्योंकि इसमें मानव–विकास की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। गति में परिवर्तन सम्भव है। जैसे, बालक के जन्म के उपरान्त प्रथम तीन वर्षों में विकास की गति अति तीव्र होती है। तत्पश्चात् उसके विकास की गति में मन्दता आ जाती है।
2. **विकास की गति में विविधता का सिद्धांत** – इसके अनुसार व्यक्तियों के विकास की गति भिन्न–भिन्न होती है। हालांकि यह भिन्नता सीमाबद्ध है। किसी व्यक्ति का विकास तीव्र गति से होता है तो किसी का अपेक्षाकृत मन्द गति से। (विकास की गति में विविधता व्यक्ति के विकास की समग्र अवधि में ऊपर–नीचे हो सकती है।)
3. **वैयक्तिक विभिन्नता का सिद्धान्त** – मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट हो गया है कि बालकों में वैयक्तिक विभिन्नताएं पाई जाती हैं। इसके फलस्वरूप शारीरिक रचना, रंग, मानसिक योग्यता, बौद्धिक विकास इत्यादि में प्रायः बालक भिन्न–भिन्न होते हैं।
4. **विकास क्रम का सिद्धांत** – विकास क्रम के सिद्धान्त के अनुरूप बालक का विकास एक व्यवस्थित एवं निश्चित क्रम में होता है, चलना, बोलना एवं भाषा का ज्ञान भी क्रमबद्ध ढ़ंग से होता है। जैसे, बालक जन्मोपरान्त केवल रोता है।
5. **परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त** – बालक के विकास के विविध पहलू हैं। जैसे शारीरिक, संज्ञानात्मक, संवेगात्मक विकास इत्यादि। विकास के ये विविध पहलू परस्पर सम्बन्धित हैं, जिनके परिणामस्वरूप बालक का संतुलित विकास होता है।
6. **विकास के एक रूप ढाँचे का सिद्धांत** – विकास का यह सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक मानव अथवा पशु के विकास का प्रतिदर्श अपनी जैविक शक्ति के अनुसार एक समान होता है। उनके विकास की प्रक्रिया में एकरूपता पाई जाती है। हरलॉक ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है– ''प्रत्येक जाति चाहे वह पशु/मानव की हो, अपनी जाति के अनुरूप ही विकास का ढाँचा अपनाती है।''
7. **सामान्य से विशिष्ट अनुक्रियाओं का सिद्धान्त** – इस सिद्धान्त के अनुरूप विकास की प्रक्रिया में गति सम्बन्धी अथवा मानसिक विकास में बालक पहले सामान्य अनुक्रियाएं करता है, बाद में विशिष्ट अनुक्रियाओं की ओर अग्रसित होता है।

• बाल–विकास को प्रभावित करनेवाले कारक (Factors affecting child Development)

विकास को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों के रूप में शारीरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारक पहचाने जा सकते हैं।

1. शारीरिक (Physical)

सबसे पहले यदि शारीरिक कारकों की बात करें तो जन्म से पूर्व की परिस्थितियाँ जैसे, माँ का शारीरिक स्वास्थ्य, पौष्टिक भोजन आदि गर्भ में पल रहे बच्चे के तात्कालिक एवं बाद के वृद्धि एवं विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। जैसे– गर्भ काल के

दौरान अगर गर्भवती को आयोडीन की कमी हो जाए तो बच्चे का शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार बच्चे के जन्म के समय की परिस्थिति जैसे बच्चे को ऑक्सीजन की कमी हो जाना, उपकरणों का प्रयोग, सफाई की कमी इत्यादि भी बच्चे के विकास को प्रभावित करते हैं। अंतःस्रावी ग्रन्थियों की क्रियाएं भी बच्चों के वृद्धि एवं विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जैसे– थाइराइड, पैराथाइराइड, पीयूष, थाइमस, ऐड्रीनल इत्यादि। इनकी अति सक्रियता अथवा अल्प सक्रियता बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं। जैसे पीयूष ग्रंथि के अल्प स्त्राव से बच्चे के कद में वृद्धि नहीं होती है। साथ ही, बच्चे अपने माता–पिता एवं अन्य पूर्वजों के कई गुणों को लिए होते हैं, जैसे– रंग–रूप, आकृति, मानसिक योग्यताएं इत्यादि। ये जन्मजात गुण एक संभावना के रूप में होते हैं और परिस्थितियों के अनुसार बच्चे के विकास को प्रभावित करते हैं।

2. पोषण (Nutrition)

भोजन का प्रकार भी बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं। कहा भी गया है, ''एक स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है''। इसलिए बच्चे के समुचित विकास के लिए पौष्टिक भोजन अनिवार्य है। अगर उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिले तो वे कुपोषित हो जाएंगे और उनका शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरूद्ध हो जाएगा। जैसे, सूर्य के प्रकाश से विटामिन डी की प्राप्ति होती है। अगर इसकी कमी हो जाती है तो बच्चे की हड्डियाँ मजबूत नहीं हो पाती हैं।

3. लिंग / जेन्डर (Sex/Gender)

बच्चे का लिंग भी उसके जन्म से लेकर आगे तक होने वाले विकास के सारे क्रम को प्रभावित करता है। माता–पिता की बच्चे के प्रति होने वाली अभिवृत्ति पर भी लिंग का प्रभाव पड़ता है, जिस कारण बच्चे एवं बच्चियों में अंतर किया जाता है। सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश के कारण बच्चा लिंग की दृष्टि से व्यवहार करने लगता है, तभी उसे सामाजिक स्वीकृति भी मिलती है और जो बच्चा उपर्युक्त व्यवहार सीखने में असफल रहता है उसे आलोचना का सामना करना पड़ता है। जैसे, एक–ही परिवार में अगर लड़का और लड़की दोनों हैं, तो लड़के को अपेक्षाकृत अधिक प्यार, दुलार, स्वतंत्रता दी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि किसी–न–किसी स्तर पर लड़की के व्यक्तित्व का विकास प्रभावित होता है और उसमें कुछ व्यक्तित्व दोष जैसे–कुण्ठा, आत्म–विश्वास में कमी, भय, इत्यादि घर कर जाता है।

4. परिवार (Family)

साथ ही, बच्चों के विकास की दिशा व दशा निर्धारित करने में परिवार, शिक्षक एवं जन–संचार की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण होती है। चाहे बच्चों का शारीरिक विकास हो या मानसिक, संवेगात्मक विकास हो या सामाजिक, परिवार ही वह पहली इकाई है जहाँ विकास के सभी आयामों की नींव पड़ती है। बच्चों को पौष्टिक भोजन एवं स्वास्थ्य सम्बंधित सुविधायें देने की जिम्मेदारी परिवार की ही होती है जो बच्चों के शारीरिक विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती है। परिवार में ही बच्चों को नए–नए शब्दों को सीखने का मौका मिलता है, जिससे उनका शब्द–भंडार विकसित हो जाता

है। अगर परिवार शिक्षित हो तो बच्चों का संज्ञानात्मक विकास भी समुचित रूप से होता है। केवल इतना हीं नहीं पारिवारिक वातावरण में आत्मविश्वास का विकास होता है और प्रेरणाओं, मूल्यों, तथा विश्वासों का निर्माण होता है।

5. **विद्यालय (School)**

बच्चे अपने दिन का अधिकतर समय परिवार के अतिरिक्त कहीं और व्यतीत करते हैं तो वह है स्कूल, जहाँ वे लगातार शिक्षकों के संपर्क में रहते हैं। शिक्षक न केवल बच्चों का संज्ञानात्मक विकास करता है, बल्कि विकास के अन्य आयामों को भी विकसित करने में सहायक होता है। विभिन्न खेलों एवं व्यायाम द्वारा बच्चों का शारीरिक विकास करते हैं। कक्षा के भीतर एवं बाहर समुचित वातावरण का निर्माण कर बच्चों के सामाजिक–संवेगात्मक विकास को भी बढ़ावा देते हैं। इसलिए बच्चों के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में शिक्षकों की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

6. **जन–संचार (Mass media)**

वर्तमान समय में जन–संचार माध्यमों जैसे– टेलीविजन, रेडियो, अखबार, पत्रिकाएँ, इत्यादि का प्रभाव विकास के सभी पहलुओं पर देखा जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह है, 'क्या ये माध्यम सदैव ही बच्चों के विकास पर सकारात्मक प्रभाव डालते हैं?' अगर देखा जाये तो जन–संचार के ये माध्यम बच्चों के विकास पर सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही तरह के प्रभाव डालते हैं। उदाहरण के तौर पर, टेलीविजन पर अनेक प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं जैसे, मनोरंजक कार्यक्रम, सूचना एवं ज्ञान आधारित कार्यक्रम, सामाजिक अच्छाईयों तथा बुराईयों पर आधारित कार्यक्रम, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम, इत्यादि। जहाँ एक ओर इन कार्यक्रमों के माध्यम से बच्चों का अपने तथा अपने आस–पास की चीजों के प्रति समझ बढ़ती हैं, वहीं दूसरी ओर कभी–कभी ये कार्यक्रम उन्हें संकीर्णता की ओर भी ले जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चों के विकास में जन–संचार माध्यमों का प्रयोग न्यायसंगत रूप से किया जाये।

वृद्धि एवं विकास का प्रयोग सामान्यतः लोग पर्यायवाची शब्द के रूप में करते हैं लेकिन इन दोनों में काफी अंतर है। शिक्षाशास्त्र के विद्यार्थी के लिए वृद्धि और विकास के अंतर्संबंधों की समझ आवश्यक है। इन अंतर्संन्धों को हम निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं –

• वृद्धि एवं विकास (Growth and Development)

सामान्यतः वृद्धि एवं विकास शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है जबकि वास्तविकता यह है कि वृद्धि तथा विकास दो अलग–अलग शब्द हैं तथा एक–दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित है। वृद्धि तथा विकास के इस अन्तर्सम्बन्ध को समझने के लिए आपको वृद्धि एवं विकास की अवधारणा को अलग–अलग समझना होगा।

वृद्धि (Growth) - अभिवृद्धि या वृद्धि से तात्पर्य शरीर व उसके अंगो में आनेवाले मात्रात्मक परिवर्तन से है जैसे शरीर की लंबाई, वजन, दाँतों, की संख्या का बढना इत्यादि है। वृद्धि समान्यतः 0 से 20 वर्ष तक अर्थात्, परिपक्वता तक चलती है।

विकास (Development) - विकास से तात्पर्य मुनष्य के जीवन काल में आनेवाले सभी प्रकार के मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन से है। इस अर्थ में विकास में जहाँ एक ओर शरीर की लंबाई, वजन, हड्डियों के आकार, दांतों की संख्या इत्यादि में आनेवाला मात्रात्मक परिवर्तन सम्मिलित होता है, वहीं दूसरी ओर विकास के अंतर्गत मनुष्य में आनेवाला गुणात्मक परिवर्तन जैसे, बुद्धि, चिंतन की योग्यता, रचानात्मकता, सामाजिकता, नैतिकता इत्यादि व्यवहारगत परिवर्तन को भी सम्मिलित किया जाता है।

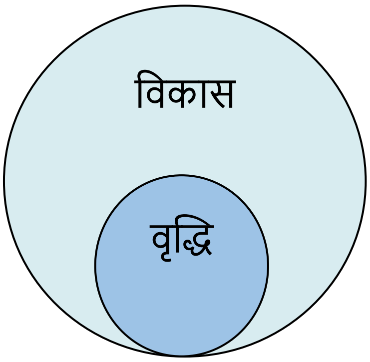

मात्रात्मक परिवर्तन से तात्पर्य ऐसे परिवर्तन से है जिसे आसानी से निरीक्षण किया जा सकता है एवं मात्रा अर्थात्, लंबाई या वजन के रूप में मापकर व्यक्त किया जा सकता है, जबकि गुणात्मक परिर्वतन से तात्पर्य ऐसे परिवर्तन से है जिसका सामान्य रूप से न तो निरीक्षण किया जा सकता है और न ही उन परिवर्तनों को वस्तुनिष्ठ तरीके से मापकर उसे मात्रा अर्थात्, लंबाई एवं वजन के रूप में व्यक्त किया जा सकता है और न ही मात्र, ऐसे परिवर्तनों का आकलन एवं मूल्यांकन करने के लिए विशेष प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षणों जैसे, बुद्धि परीक्षण, अभिक्षमता परीक्षण, उपलब्धि परीक्षण, सृजनात्मकता परीक्षण इत्यादि का उपयोग किया जाता है।

• वृद्धि तथा विकास में अन्तर्सम्बन्ध (Inter-relationship between Growth and Development)

वृद्धि तथा विकास के ऊपर अंकित वर्णन से स्पष्ट है कि जहाँ वृद्धि का संबंध हमारे शरीर में आनेवाले संरचनात्मक पहलुओं से है, वहीं दूसरी ओर विकास उन संरचनात्मक पहलुओं से संबंधित हमारे शरीर का कार्यात्मक पक्ष है। वृद्धि का क्षेत्र जहाँ संकुचित है वहीं विकास का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, जिसमें वृद्धि के सभी पक्ष अपने–आप समाहित हो जाते हैं। सामान्यतः हम देखते हैं कि उम्र बढ़ने के साथ जहाँ बच्चों के शरीर की लंबाई, वजन, हड्डियों या अस्थियों के आकार में वृद्धि एवं मजबूती, मांसपेशियों का गठीला होना, दांतों की संख्या में वृद्धि, मस्तिष्क के आंतरिक संरचनाओं में परिर्वतन इत्यादि लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं, वहीं बच्चों के संज्ञानात्मक क्षमताओं जैसे, बुद्धि, चिंतन, स्मरण–शक्ति इत्यादि में भी परिवर्तन आता है। इसके साथ ही उसमें वाणी का विकास, नैतिक विकास, सामाजिक विकास, मूल्यों का विकास इत्यादि के लक्षण एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वृद्धि तथा विकास साथ–साथ चलनेवाली प्रक्रियाएँ हैं, लेकिन इसके बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि वृद्धि विकास की प्रारंभिक आवस्था है जिसपर विकास के अन्य पक्ष निर्भर करते हैं। इसे

हम कुछ उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं। जन्म के समय बच्चा केवल रोकर अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है, क्योंकि इस समय उसका वाक्यंत्र इतना परिपक्व नहीं होता है, जिससे वह बोलकर अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सके, लेकिन उम्र में वृद्धि के साथ जैसे–जैसे उसके वाक्तंत्रों में परिपक्वता आती जाती है, वह अपने वातावरण के साथ अनुक्रिया करते हुए नित्य दिन नए–नए शब्दों को सीखता है और उसका उपयोग करता है। भाषा विकास के क्रम में वह प्रारंभ में सामान्य शब्दों का उच्चारण तथा फिर धीरे–धीरे जटिल शब्दों का उच्चारण करना सीखता है। इसी प्रकार हम कक्षा एक या दो के विद्यार्थियों से कबड्डी या खो–खो जैसे खेल को कुशलतापूर्वक खेलने की अपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि वह शारीरिक रूप से इतना परिपक्व नहीं होता, जिससे अपने शारीरिक गतिविधि एवं श्वसन क्रियाओं पर पूर्ण रूप से नियंत्रण स्थापित कर सके और न ही मानसिक रूप से इतना परिपक्व होता है कि इन खेलों के पीछे छिपे नियमों को आसानी से समझ सके। वहीं हम कक्षा 5 अथवा कक्षा 6 के विद्यार्थियों से यह अपेक्षा आसानी से कर सकते हैं क्योंकि इस समय वह शारीरिक एवं मानसिक रूप से इतना परिपक्व हो चुका होता है कि वह इन खेलों के लिए आवश्यक शारीरिक कौशल का प्रदर्शन कर सके एवं साथ–ही इन खेलों के पीछे छिपे नियमों को भी समझ सके। इसी प्रकार आप कक्षा 1 के विद्यार्थियों से एकिक नियम या प्रतिशतता से संबन्धित सवालों को हल करने की अपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि इस समय उसके मस्तिष्क के स्नायुतंत्रों में इतनी परिपक्वता नहीं आती कि वह एकिक नियम या प्रतिशतता जैसे समस्याओं के पीछे छिपे गणितीय सिद्धांतों एवं नियमों को समझने के लिए पर्याप्त चिंतन एवं तर्क–वितर्क कर सके।

आप अपनी कक्षा में यह भी अनुभव करते हैं कि कक्षा 7 के विद्यार्थियों की चित्रकारी कक्षा 2 के विद्यार्थियों के द्वारा किये गए चित्रकारी से काफी स्पष्ट, सुडौल एवं उद्देश्यपूर्ण होता है। इसका कारण यह है कि कक्षा 7 के छात्रों के मांसपेशियों में चित्रकारी के लिए आवश्यक स्थूल एवं सूक्ष्म गत्यात्मक कौशलों का पर्याप्त विकास हो जाता है, जिससे वह अपनी मांसपेशियों पर पर्याप्त नियंत्रण स्थापित करने में सफल होते हैं। इसके विपरीत कक्षा 1 के छात्रों की मांसपेशियाँ अपरिपक्व होती हैं। उसके मांसपेशियों के सूक्ष्म गत्यात्मक कौशलों का पर्याप्त विकास नहीं हुआ रहता है। अतः वह अपने अंगुलियों की मांसपेशियों पर पर्याप्त नियंत्रण स्थापित नहीं कर पाते हैं। साथ–ही वह मानसिक रूप से भी काफी अपरिपक्व होते हैं, जिससे अपने ध्यान को अधिक समय तक चित्रकारी पर केन्द्रित रखने में सफल नहीं हो पाते, जिसके कारण उनके द्वारा की गयी चित्रकारी असंबद्ध एवं अतार्किक होने के साथ–साथ बेडौल भी होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के आलोक में आप समझ सकते हैं कि विकास के किसी भी एक पक्ष में आनेवाला परिवर्तन उस पक्ष से संबन्धित शारीरिक वृद्धि पर निर्भर करता है अर्थात वृद्धि विकास के लिए एक आधारशिला या पूर्व आवश्यक शर्त है।

अब हम वृद्धि और विकास के मध्य अंतरों को निम्नलिखित सारणी के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे।

वृद्धि (Growth)	विकास (Development)
1. वृद्धि की प्रक्रिया साधारण होती है।	1. विकास की प्रक्रिया जटिल (Complex) होती है।

2. वृद्धि का संबंध परिवर्तन के परिमाणात्मक (Quantitative) लक्षणों से होता है। जैसे, बच्चों के उम्र बढ़ने के साथ–साथ आकार, लंबाई और भार इत्यादि में वृद्धि होती है।	2. विकास का संबंध परिमाणात्मक (Quantitative) तथा गुणात्मक (Qualitative) दोनों प्रकार के लक्षणों से होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में आए संपूर्ण परिवर्तनों का संकेत मिलता है। विकास, व्यवहार और कार्यकुशलता में आई संपूर्ण प्रगति में सन्निहित है।
3. वृद्धि चूंकी कोशीय होता है अतः विशेष आयु ग्रहण करने पर (परिपक्वता) समाप्त हो जाती है।	3. विकास की प्रक्रिया निरंतर चलने वाली एक सतत प्रक्रिया (Continuous Process) है। परिपक्वता ग्रहण करने पर यह समाप्त नहीं होती है।
4. वृद्धि का मापन करना एक सरल कार्य है जिसे सहजता से अवलोकन द्वारा किया जा सकता है।	4. विकास का मापन करना एक कठिन कार्य है।
5. वृद्धि के साथ विकास का होना आवश्यक नहीं है।	5. विकास का मापन करना एक कठिन कार्य है।

- **बाल विकास के अध्ययन के तरीके (Approaches to the study of child development)**

एक सफल अध्यापक होने के लिए आपको बाल–विकास के विभिन्न पैटर्न तथा विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बच्चों में परिलक्षित होनेवाले विकास के विविध आयामों एवं उसके बीच पाए जानेवाले अन्तर्सम्बन्धों को जानने के साथ–साथ वैयक्तिक विभिन्नता का ज्ञान होना भी अत्यंत ही आवश्यक है, ताकि आप अपने कक्षा कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न करते हुए विद्यार्थियों में अपेक्षित परिवर्तन लाने में सफल हो सकें। बाल–विकास का अध्ययन करने के लिए मनोवैज्ञानिकों के द्वारा मुख्य रूप से तीन उपागमों (Approaches) का प्रयोग किया जाता है–

1. अनुदैर्ध्य उपागम (Longitudinal Approach)
2. प्रतिनिध्यात्मक उपागम (Cross sectional Approach)
3. मिश्रित उपागम (Mixed Approach)

बाल–विकास के उपर्युक्त उपागम को जानने से पूर्व हम तीन परिस्थितियों पर विचार करते हैं –

परिस्थिति 1

जोया पिछले तीन वर्षों से अपनी कक्षा 7 के विद्यार्थियों का अवलोकन कर रही है अर्थात कक्षा 7 के विद्यार्थियों का अवलोकन जोया ने पूर्व की कक्षाओं जैसे कक्षा 5 एवं कक्षा 6 से

करती आ रही हैं तथा अपने इस अवलोकन एवं अध्यापक निर्मित परीक्षण द्वारा विद्यार्थियों के किये गए मूल्यांकन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि उम्र बढ़ने के साथ–साथ विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक योग्यताओं (बुद्धि, चिंतन, तर्क–वितर्क, स्मरण–शक्ति इत्यादि) में उत्तरोत्तर विकास होता है।

परिस्थिति–2

विकास अपने विद्यालय के कक्षा–4, कक्षा–5, कक्षा–6, एवं कक्षा–7 के विद्यार्थियों के शारीरिक विकास का अवलोकन करते हैं तथा इन कक्षाओं के विद्यार्थियों के मध्य पाए जानेवाले अन्तरों की सूची तैयार करते हैं। साथ ही अध्यापक निर्मित परीक्षण के द्वारा विभिन्न कक्षा के विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक योग्यताओं का मूल्यांकन कर उसकी सूची तैयार करते हैं एवं इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उम्र बढ़ने के साथ इन विद्यार्थियों के शारीरिक संरचनाओं में परिपक्वता आने के साथ–साथ उनके संज्ञानात्मक योग्यताओं (बुद्धि, चिंतन, तर्क–वितर्क, स्मरण–शक्ति इत्यादि) का विकास होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि परिपक्वता तथा संज्ञानात्मक योग्यताओं के विकास में धनात्मक सहसम्बन्ध पाया जाता है।

परिस्थिति 3

रमेश पिछले तीन वर्षों से अपने विद्यालय के कक्षा–5 के विद्यार्थियों का लगातार अवलोकन कर रहे हैं अर्थात वह इन विद्यार्थियों का कक्षा–3 एवं कक्षा–4 में भी अवलोकन कर चुके हैं एवं इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन विद्यार्थियों के पेशीय कौशलों में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। उनकी मांसपेशियाँ कक्षा की तुलना में अधिक गठीली हो गई है और अब वह किसी भी पेशीय कार्य को अधिक कुशलतापर्वक कर पाने में सक्षम हैं। इसके साथ ही शिक्षक श्री रमेश कुमार वर्त्तमान में कक्षा–5 में पढ़नेवाले विद्यार्थियों के पेशीय कौशलों की तुलना वर्त्तमान कक्षा–3 एवं कक्षा–4 में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के पेशीय कौशल से करते हैं तथा पुनः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कक्षा–5 के विद्यार्थी कक्षा–3 एवं कक्षा–4 की विद्यार्थी के तुलना में किसी भी पेशीय कार्यों को अधिक कुशलतापूर्वक करने में सफल होते हैं। अंत में रमेश छात्रों के पेशीय कौशलों में होनेवाले विकास से संबन्धित दोनों विधियों से प्राप्त अनुभवों का विश्लेषण करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कक्षा–3 के विद्यार्थियों की तुलना में कक्षा–5 के विद्यार्थियों में पेशीय कौशलों का विकास अधिक हो चुका होता है, जिसके कारण कक्षा 5 के विद्यार्थी किसी भी कार्य को अधिक कुशलतापूर्वक करने में सफल होते हैं।

ऊपर अंकित तीनों परिस्थितियाँ बाल–विकास के अध्ययन के तीनों उपागमों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

परिस्थिति–1 में शिक्षिका जोया एक ही कक्षा के विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक विकास का अध्ययन अलग–अलग अवस्थाओं अर्थात कक्षा– 5, कक्षा–6 तथा कक्षा–7 में करने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि उम्र बढ़ने के साथ–साथ विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक योग्ताओं में उत्तरोत्तर विकास होता है। विद्यार्थियों के ऊपर किये गए इस प्रकार के अध्ययन को अनुदैर्ध्य उपागम (Longitudinal approach) कहा जाता है। ऊपर अंकित परिस्थिति–2 में विकास एक ही कक्षा के विद्यार्थियों के समूह पर अलग–अलग समय या

अलग–अलग अवस्थाओं में नहीं करते हैं बल्कि वह एक ही सत्र में विभिन्न कक्षाओं (कक्षा–4, कक्षा–5, कक्षा–6 एवं कक्षा–7) में पढ़नेवाले विद्यार्थियों का अलग–अलग अवलोकन एवं मूल्यांकन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उम्र बढ़ने के साथ बच्चों के शारीरिक संरचनाओं में परिवर्तन आने के साथ–साथ उनकी संज्ञानात्मक योग्यताओं में भी उत्तरोत्तर विकास होता है अर्थात्, परिपक्वता तथा संज्ञानात्मक योगयताओं के बीच धनात्मक सहसंबन्ध पाया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षक विकास ने एक–ही समय में विभिन्न आयु समूह या कक्षा के विद्यार्थियों का अलग–अलग अध्ययन करने के पश्चात उनमें आनेवाले शारीरिक एवं संज्ञानात्मक योग्यताओं का सहसंबन्धात्मक अध्ययन किये। शिक्षक श्री कुमार द्वारा किये गए इस प्रकार के अध्ययन को प्रतिनिध्यात्मक उपागम (Cross-sectional approach) कहा जाता है। ऊपर अंकित परिस्थिति–3 में शिक्षक रमेश कुमार प्रारंभ में एक विद्यार्थी समूह का अध्ययन अलग–अलग अवस्थाओं या कक्षाओं (कक्षा–3, कक्षा–4 तथा कक्षा–5) में करते हैं तथा बाद में कक्षा–5 में पढ़ने वाले छात्रों की तुलना इसी सत्र में पढ़नेवाली कक्षा–3 एवं कक्षा–4 के विद्यार्थियों से करते हैं और अंत में इस दोनों अवस्थाओं का अवलोकन से प्राप्त अनुभवों का तुलनात्मक अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कक्षा–5 के विद्यार्थियों में कक्षा–3 के विद्यार्थियों के तुलना में पेशीय कौशल का विकास अधिक सुदृढ़ रूप में हो चुका होता है।

अतः स्पष्ट है कि तीसरी परिस्थिति में रमेश द्वारा विद्यार्थियों का अध्ययन पहले अनुदैर्ध्य विधि तथा बाद में प्रतिनिध्यात्मक उपागम के द्वारा किया गया और अंत में इन दोनों उपागमों से प्राप्त आंकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन कर अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचा गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए अनुदैर्ध्य उपागम एवं प्रतिनिध्यात्मक उपागमों दोनों से प्राप्त आँकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन कर अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है तो बाल–विकास के अध्ययन के ऐसे उपागम को मिश्रित उपागम (Mixed approach) नाम दिया जाता है।

1. **अनुदैर्ध्य उपागम (Longitudinal approach) -** इस उपागम द्वारा बच्चों का अध्ययन करने के लिए मनोवैज्ञानिक जिन व्यक्ति या व्यक्ति समूह का चयन प्रतिदर्श (Sample) के रूप में करते हैं। वह उनका लंबे समय अर्थात कई वर्षों/महीनों तक भिन्न–भिन्न समय अंतरालों जैसे, 3 माह, 6 माह, 15 माह या फिर शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था इत्यादि में अध्ययन करते हैं तथा विकास के स्वरूप, गति, प्रगति, दिशा और अन्य लक्षणों को जानने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए हम मान लें कि किसी बालक के मनोगत्यात्मक विकास का अध्ययन करना चाहते है तो उस बालक के 3 माह, 6 माह, 9 माह, 12 माह, 15 माह, इत्यादि समय अंतरालों पर उसके करवट लेने, रेंगने, घिसकने, बैठने, खड़े होने, चलने, दौड़ने, उछलने, कूदने, नाचने, वस्तुओं को पकड़ने, लिखने, चम्मच से खाने, गेंद पकड़ने इत्यादि क्रियाओं का प्रेक्षण करते हैं और विभिन्न आयु स्तरों पर इन क्रियाओं में कितनी वृद्धि या कमी आती हैं अर्थात्, विकास में आए परिवर्तनों का परिचय प्राप्त करते हैं।

2. **प्रतिनिध्यात्मक उपागम (Cross-sectional approach)** - प्रतिनिध्यात्मक उपागम को नॉर्मेटिव या समकालीन उपागम के नाम से भी जाना जाता है। इस विधि द्वारा किये जानेवाले अध्ययन में विभिन्न आयु वर्ग के बड़े–बड़े समूह का चयन प्रतिदर्श के रूप में किया जाता है तथा समस्या से संबन्धित गुण, योग्यता या व्यवहार का अध्ययन किया

जाता है और उससे प्राप्त आकंडों का औसत ज्ञात करते हैं तथा उस औसत को उस आयु वर्ग का मानक मानकर अन्य व्यक्तियों के साथ उसकी तुलना करते हैं। उदाहरण के लिए यदि आप बच्चों के मनोगत्यात्मक योग्यताओं के विकास का अध्ययन करना चाहते है तो उसके लिए आपको विभिन्न आयुवर्ग (जैसे, 3 माह, 6 माह, 9 माह, 12 माह, 15 माह इत्यादि) के बच्चों का अलग–अलग समूह तैयार करना होगा और फिर उस आयु समूह के बच्चों के मनोगत्यात्मक विकास जैसे, करवट लेने, घिसकने, बैठने, खड़े होने, चलने, दौड़ने, उछलने, कूदने इत्यादि आनेवाले परिवर्तनों का अवलोकन कर इससे संबन्धित अवस्था की पहचान करनी होगी।

3. **मिश्रित उपागम (Mixed approach)** - बाल–विकास के अध्ययन के लिए जब उपर्युक्त दोनों उपागमों अर्थात अनुदैर्ध्य उपागम तथा प्रतिनिध्यात्मक उपागम का एक साथ उपयोग किया जाता है तो इसे मिश्रित उपागम के नाम से जाना जाता है।

नोट :– *उपर्युक्त उपागमों के द्वारा आप अपने विद्यार्थियों के विकास प्रतिरूप का अध्ययन करने के लिए कई प्रकार के मनोवैज्ञानिक विधियों, प्रविधियों एवं परीक्षणों का उपयोग अध्ययन उपकरण के रूप में कर सकते हैं कि उदाहरण के लिए साक्षात्कार (Interview), निरीक्षण (Observation), व्यक्ति अध्ययन (Case study), प्रयोग (Experiment), प्रश्नावली (Questionnaire), रेटिंग स्केल (Rating scale), विभिन्न मनोवैज्ञानिक परीक्षण जैसे, बुद्गि परीक्षण अभिक्षमता परीक्षण, उपलब्धि, परीक्षण एवं स्व निर्मित परीक्षण इत्यादि।*

समेकन

इसमें हमने यह समझा कि बच्चा एक चेतन एवं विकासशील प्राणी है। बच्चे का बचपन एक अनोखा काल होता है। उसे लेकर जो कुछ हमारा ज्ञान व अनुभव है वह प्रभावशाली हो सकता है परन्तु बच्चे के संदर्भ में जो कुछ हम नहीं जानते उसे भी समझने की आवश्यकता है। बच्चे के बचपन को किस प्रकार मनोसामाजिक कारण प्रभावित करते हैं और एक शिक्षक के नाते हमारा क्या दायित्व बनता है? हमने यह भी जाना। बाल–विकास की अवधारणा और उसके विविध आयाम एवं उसे प्रभावित करने वाले कारकों पर अपनी समझ विकसित की। साथ ही सीखने की अवधारणा का परिपक्वता से संबंध पर चर्चा करते हुए हमने वृद्धि एवं विकास और उनके बीच के अर्न्तसंबंधो को जाना तथा अध्ययन के विभिन्न तरीको पर व्यापक समझ विकसित की।

मूल्यांकन

1. बचपन को प्रभावित करने वाले मनोसामाजिक कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. बाल–विकास एवं बचपन को समझना एक शिक्षक के लिए क्यों आवश्यक है? तर्क प्रस्तुत करें।
3. बाल–विकास की अर्थ प्रकृति अवधारणा की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
4. बाल्यावस्था जीवन का अनोखा काल है, इस कथन का स्पष्टीकरण दीजिए और इस काल में होने वाले विभिन्न विकासो का वर्णन कीजिए।
5. बचपन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक की पहचान करते हुए यह स्पष्ट करें कि विद्यालयी वातावरण किस–किस रूप में बचपन को प्रभावित करता है?
6. बाल्यावस्था के प्रत्यय को स्पष्ट कीजिए तथा बाल्यावस्था में परिवार, पड़ोस, स्कूल और शिक्षक की भूमिका का वर्णन कीजिए।
7. विकास की विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा करते हुए बाल्यावस्था में बालक के विकास की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
8. वृद्धि एवं विकास की व्यापक समझ एक शिक्षक के लिए आवश्यक है। दोनों के बीच अन्तर्सम्बंधो को जाने बिना बच्चों को सिखाने में क्या–क्या समस्याएं पैदा हो सकती है? व्याख्या कीजिए।

‘गतिविधियाँ

1. दो समान लिंग वाले बच्चों जिसमें कम–से–कम पांच वर्ष का अंतर है, उसका नियमित प्रेक्षण कीजिए। उसमें वृद्धि एवं विकास के अभिलक्षण किस प्रकार प्रकट होते है। प्रत्येक के पांच–पांच बिन्दु नोट कीजिए।
2. विज्ञापन एवं जन संचार के अन्य माध्यमों का प्रभाव बच्चे के बचपन पर किस प्रकार पड़ता है। सामाजिक रूप से पिछड़े वर्ग के बच्चे पर विभिन्न पिज्ञापनों का पड़ने वाले प्रभाव की सूची बनाएं।

इकाई 2

बच्चों का शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास

परिचय

पिछले अध्याय में हमने बाल–विकास के बारे में कुछ बुनियादी जानकारी हासिल की है। यह जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक चलनेवाली एक सतत् प्रक्रिया है। विकास का एक सार्वभौमिक पैटर्न होता है। बाल विकास के विभिन्न आयाम जैसे शारीरिक, मनोगत्यात्मक, संवेगात्मक, नैतिक तथा संज्ञानात्मक विकास इत्यादि होते हैं। विकास के ये सभी आयाम आपस में परस्पर जुड़े हुए होते हैं तथा बच्चों के समग्र विकास में योगदान देते हैं।

इस अध्याय में हम बालक के शारीरिक तथा मनोगत्यात्मक विकास के प्रति समझ बनाने का प्रयास करेंगे। बालक के शारीरिक तथा मनोगत्यात्मक विकास से संबंधित मुख्य लक्षणों, विशेषताओं तथा इन को प्रभावित करने वाले कारकों की भूमिका को समझेंगे।

- **शारीरिक विकास की समझ**

हमारे शारीरिक ढाँचे के आंतरिक तथा बाह्य अवयवों में जन्म से लेकर मृत्यु तक कुछ–न–कुछ परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तनों की इस प्रक्रिया को ही शारीरिक विकास कहते हैं। इसमें बालक में उम्र के अनुसार शारीरिक आकार (Body Size), शारीरिक अनुपात (Body Proportion), हड्डियों (Bones), मांसपेशियों (Muscles), दाँत (Teeth) तथा तंत्रिका तंत्र (Nervous System) इत्यादि में आये परिवर्तन शामिल हैं। जैसे–जैसे कोई शारीरिक परिवर्तन होता है, वैसे–वैसे नयी योग्यताएँ तथा कौशल विकसित होते जाते हैं।

बाल–विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों को नीचे दी गई सारणी के माध्यम से समझा जा सकता है–

विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले शारीरिक परिवर्तन	
अवस्था एवं संभावित आयु वर्ग	शारीरिक परिवर्तन
शैशवावस्था (0–2 वर्ष) एवं पूर्व बाल्यावस्था (2–6 वर्ष)	• बच्चे के जन्म के उपरान्त तीन वर्ष तक उसका शारीरिक विकास अति तीव्र गति से होता है। एक वर्ष के अन्दर ही शिशु की हड्डियाँ मांसपेशियाँ एवं अन्य अंग इतने विकसित हो जाते हैं कि शिशु बैठने एवं खड़े होने में समर्थ हो जाते हैं। • तीन वर्ष की आयु में उसके पूरे दाँत निकल आते हैं, हाथ–पैर एवं पुट्ठे मजबूत हो जाते हैं। • उनकी सभी इन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं, उसके भार एवं लम्बाई में निरंतर वृद्धि होती है। • 6 वर्ष की आयु तक बच्चे के विकास की गति मन्द हो जाती है। परन्तु उनकी कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ सुदृढ़ होती जाती हैं।
उत्तर बाल्यावस्था (6–12 वर्ष)	• बाल्यावस्था में बच्चे के शारीरिक विकास की गति मन्द होकर स्थिरता की ओर अग्रसित होती हैं। • जो शारीरिक विकास अभी तक हो चुका है, उसमें सुदृढ़ता आती है। • शारीरिक क्षमताओं में अभिवृद्धि होती है।
किशोरावस्था (12–18 वर्ष)	• इस अवस्था में किशोर के शरीर में विभिन्न परिवर्तन परिलक्षित होने लगते हैं, जैसे, भार एवं लम्बाई में वृद्धि, शारीरिक संरचना एवं मांशपेशियों में सुदृढ़ता, दाढ़ी एवं मूँछें निकल आना इत्यादि। किशोरियों में रजोदर्शन, स्तनों में उभार, कुल्हों में उभार, शारीरिक आकर्षण में अभिवृद्धि इत्यादि परिवर्तन आ जाते हैं।

आइये अब हम शारीरिक विकास से संबंधित कुछ विशेषताओं की समझ बनायें–

1. विकास की गति

विकास की गति में व्यक्तिगत भिन्नताएँ

उपर्युक्त सारणी से यह स्पष्ट है कि बालकों में शारीरिक विकास सदैव एकसमान गति से नहीं होता। शैशवावस्था में शारीरिक विकास की गति बहुत तीव्र होती है, बाल्यावस्था में थोड़ा धीरे बढ़ते हैं तथा किशोरावस्था में पुनः बड़ी तेजी से बढ़ते हैं। इसके पश्चात फिर

प्रौढ़ावस्था में बढ़ने की गति धीमी पड़ती जाती है जो वृद्धावस्था से लेकर मृत्युपर्यन्त चलती रहती है।

सभी बच्चों में विकास का एक निश्चित अनुक्रम होता है। उदाहरणतः सभी बच्चे पहले करवट लेना, बैठना, घुटनों के बल चलना, खड़े होकर चलना इत्यादि क्रमशः सीखते हैं। प्रत्येक बालक विकास की इन सब अवस्थाओं से गुजरता है। विकास की गति में व्यक्तिगत भिन्नता हो सकती है, परन्तु अनुक्रम वही रहता है। इन व्यक्तिगत विभिन्नताओं के कारण कुछ बच्चों को तीन वर्ष की उम्र में ही रंगों की पहचान हो जाती है और उनके नाम सीख लेते हैं, जबकि कुछ बच्चे पाँच वर्ष की उम्र तक यह सीख पाते हैं।

लिंग संबंधी गतिय भिन्नता

लड़के–लड़कियों के विकास की गति में भिन्नता दिखती है। जन्म से पूर्व लड़कों की तुलना में लड़कियों का कंकाल तंत्र अधिक तेजी से बढ़ता है।

2. शारीरिक विकास की दिशा

i. **शिरःपदाभिमुख** (Cephalocaudal)

यह वह क्रम है जिसमें विकास सिर से पैर की दिशा में होता है। शारीरिक भार, ऊँचाई और नाक–नक्श में परिवर्तन क्रमशः ऊपर से नीचे की तरफ होता है।

यही पैटर्न सिर के हिस्सों में भी दिखता है। सिर के ऊपरी हिस्से जैसे आँखे और दिमाग, निचले हिस्से, जैसे जबड़ों की तुलना में तेजी से बढ़ते हैं। यह दिशा प्रसव–पूर्व तथा प्रसव उपरान्त जन्म के बाद विकास दोनों पर लागू होता है।

विकास की दिशा के संदर्भ में यह बताना महत्त्वपूर्ण है कि जब शरीर का एक हिस्सा तीव्र गति से बढ़ रहा होता है तो उसके साथ–साथ शरीर के अन्य हिस्से भी विकसित होते हैं, परन्तु उनके विकास की दर अपेक्षाकृत धीमी रहती है।

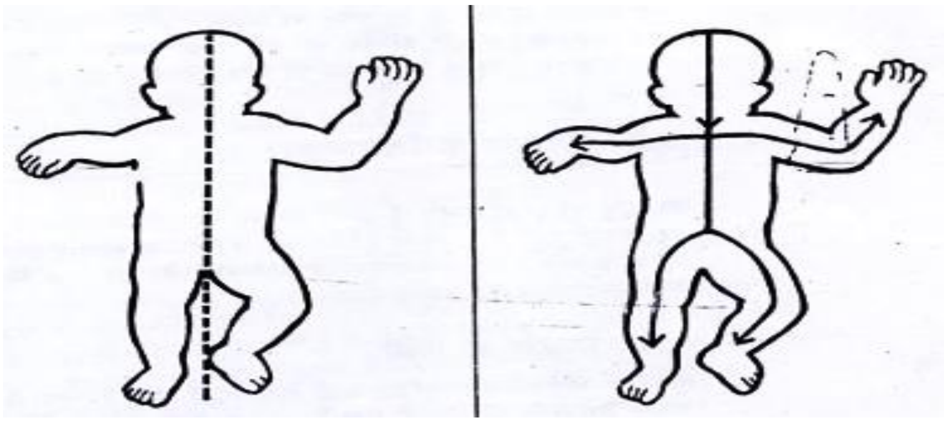

केन्द्रीय कक्ष   विकास की दिशा–मध्य से बाहर और सिर से पैर

ii. समीप–दूराभिमुख (Proximodistal)

यह शारीरिक विकास की दूसरी दिशा है। इसमें विकास का क्रम शरीर के अन्दर से बाहर की ओर होता है। जन्म पूर्व सिर, हृदय और उदर जो शरीर के मध्य में स्थित हैं, वे पहले विकसित होते हैं। भ्रूण की बाँहें, पैर जो अक्ष से दूर होती है, बाद में विकसित होती है। उंगलियाँ और पंजे जो बिल्कुल अंतिम छोर पर होते है, वे सबसे अन्त में विकसित होते हैं।

3. **शारीरिक अनुपात (साम्य) में परिवर्तन**

बच्चे जैसे–जैसे शैशवकाल से बचपन की ओर बढ़ते हैं, शरीर के अंगों के अनुपात में अंतरों से शरीर के आकार के रूप में अन्तर प्रतीत होने लगता है। सामान्यतः छोटा शिशु गोल–मटोल, मांसल होता है, परन्तु बाल्यकाल मे वह लम्बी टांगों वाला तथा पतले शरीर वाला बन जाता है। किशोरावस्था में पहुँचते–पहुँचते सापेक्ष रूप से अब छरहरे शरीर वाले हो जाते हैं।

जन्म के समय बच्चे का शरीर उसके शरीर की सम्पूर्ण लम्बाई का 1/4 भाग होता है और यह आकार में हाथ पैरों की तुलना में अधिक बडा दिखाई देता है। परन्तु जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है उसका सिर, हाथ–पैरों के अनुपात में छोटा होता जाता है और किशोरावस्था की 1/8 भाग के बराबर ही रह जाता है।

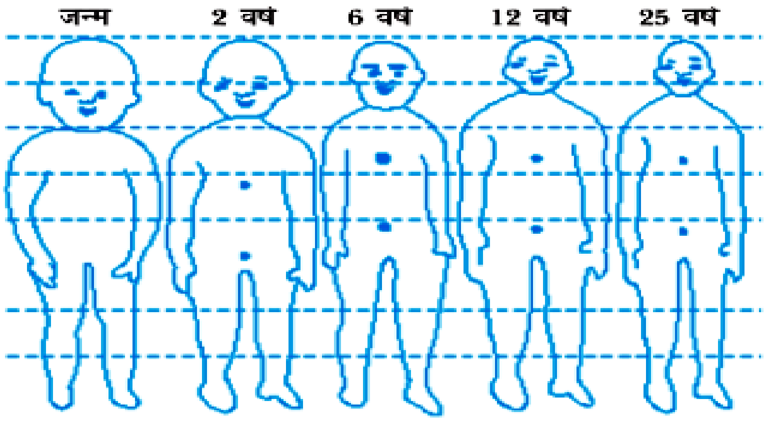

जन्म से लेकर 25 वर्ष तक की आयु तक शरीर के अनुपात में परिवर्तन

4.शरीर के आकार में आने वाले परिवर्तन

आपके विचार से बच्चों के शारीरिक विकास में अत्यधिक सुस्पष्ट परिवर्तन कौन–कौन से हो सकते हैं? बच्चों के शरीर के आकार में आए व्यापक परिवर्त्तन जिन्हें उनके कद एवं भार में आए स्पष्ट परिवर्तनों के माध्यम से देखा जा सकता है। शैशवकाल में ये परिवर्तन अत्यधिक तीव्र होते हैं। जन्म के पश्चात् किसी अन्य अवस्था में परिवर्तनों की तुलना में प्रथम दो वर्षो में वृद्धि अत्यन्त तीव्र होती है। दो वर्ष के बाद वृद्धि दर कुछ कम हो जाती है।

शारीरिक विकास दर प्रारंभिक तथा मध्य बाल्यकाल में धीमी हो जाती है। अगले कुछ वर्षों में बच्चे का कद लगभग 2 से 3 इंच प्रति वर्ष बढ़ जाता है तथा 2 से 3 किलोग्राम प्रतिवर्ष

बढ़ता रहता है। 6 से 8 वर्ष की आयु में लड़कियाँ, लड़कों की अपेक्षा थोड़ी छोटी और हल्की होती हैं। 9 वर्ष की आयु तक यह प्रवृत्ति विपरीत हो जाती है। बाद में किशोरावस्था में लड़कों के शरीर का आकार तेजी से बढ़ता है। इसके फलस्वरूप लड़कियों की अपेक्षा लड़के थोड़े लम्बे तथा अधिक वजन वाले होते हैं। 11 से 12 वर्ष के मध्य तक लड़कियों की वृद्धि दर, लड़कों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है परंतु 13 वर्ष के पश्चात लड़के अधिक तेजी से बढते हैं तथा लड़के, लड़कियों की अपेक्षा अधिक लम्बे तथा भारी हो जाते हैं। इसके बाद वृद्धि की गति धीमी पड़ जाती है, जो 18 से 20 वर्ष की आयु तक चलता रहता है। यह सही है कि सभी बच्चों के लिए वृद्धि का स्वरूप एक जैसा ही रहता है परंतु जिस दर से उनका आकार या वजन बढता है, वह अलग–अलग होता है।

शरीर का आकार जिसमें किसी बच्चे का कद और उसका भार सम्मिलित होता है, वह मुख्यतः आनुवांशिक तथा वातावरणीय दोनों प्रकार के कारकों से प्रभावित होता है। वंशानुगत कारकों का संबंध उन कारकों से है, जो बच्चा अपने माता–पिता से विरासत के रूप में प्राप्त करता है और जिसमें आनुवांशिक लक्षण सम्मिलित होते हैं जो बच्चों में स्थानांतरित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, इस बात की काफी संभावना होती है कि लम्बे माँ–बाप के बच्चे भी लम्बे ही होंगे। इसके साथ–साथ यह भी सत्य है कि वातावरण संबंधी कारक जैसे पोषण, सामाजिक–आर्थिक स्थिति, पविार का आस–पड़ोस, सांस्कृतिक परिवेश इत्यादि कारक बच्चे की शारीरिक वृद्धि और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

बच्चों का शारीरिक विकास निश्चित, नियमित एवं क्रमिक होता है, किन्तु हर बच्चा एक ही वजन एवं आकार का नहीं होता। इस विविधता के कई कारण हैं जैसेः–

- जन्मजात कारक।
- गर्भावस्था के दौरान माँ का पोषण व आहार।
- पीयूष ग्रंथि (Pituitary Glands) द्वारा उत्पादित वृद्धि हार्मोन का अभाव। यह हार्मोन शरीर के बढ़ने के लिए उत्तरदायी होता है। वृद्धि होर्मोन की उत्पत्ति विकास के किसी भी अवस्था में हो सकता है।
- अन्य विविध कारण जो परिवार व उसका व्यवहार में विविधता ला सकते हैं।

आयु	औसत ऊँचाई से.मी. में		औसत भार किलोग्राम में	
	लड़कियाँ	लड़के	लड़कियाँ	लड़के
3 महीने से कम	55.0	56.2	4.2	4.5
3 महीना	60.9	62.7	5.6	6.7
6 महीना	64.4	64.9	6.2	6.9
9 महीना	66.7	69.5	6.6	7.4
1 वर्ष	72.5	73.9	7.8	8.4
2 वर्ष	80.1	81.6	9.6	10.1
3 वर्ष	87.2	88.8	11.2	11.8
4 वर्ष	94.5	96.0	12.9	13.5

5 वर्ष	101.4	102.1	14.5	14.8
6 वर्ष	107.4	108.5	16.0	16.3
7 वर्ष	112.8	113.9	17.6	18.0
8 वर्ष	118.2	119.8	19.4	19.7
9 वर्ष	122.9	123.7	21.3	21.5
10 वर्ष	128.4	124.4	23.6	23.5
11 वर्ष	133.6	133.4	26.4	25.9
12 वर्ष	139.6	138.3	29.8	28.5
13 वर्ष	143.9	144.6	33.3	32.1
14 वर्ष	147.5	150.1	36.8	35.7
15 वर्ष	155.5	155.5	38.8	39.6
16 वर्ष	159.5	159.9	41.4	43.2
17 वर्ष	161.4	161.4	42.4	45.7
18 वर्ष	163.1	163.1	42.4	47.4
19 वर्ष	163.4	163.4	42.4	48.1

स्त्रोत– *Growth and Development of Indian infants and children, Technical report services no. 18, ICMR, 1972*

5.स्नायु तंत्र (Nervous System)

माँ के गर्भ एवं जीवन के प्रथम 4 वर्ष में स्नायु तंत्र तेजी से विकसित होता है। इस विकास के फलस्वरूप जन्म से पूर्व ही स्नायु कोशिकाओं की संख्या तथा आकार में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। जन्म के बाद नवीन स्नायु कोशिकाओं का निर्माण नहीं होता बल्कि स्नायु कोशिकाओं में जो कुछ अपरिपक्वता रह जाती है, उसे पूरा करने के लिये ही विकास कार्य होता रहता है।

6.अस्थिगत ढ़ांचे, हड्डियों तथा मांसपेशियों में परिवर्तन

बाल्यावस्था में हड्डियों में आए परिवर्तनों का शारीरिक विकास में विशेष योगदान होता है। शिशु की हड्डियाँ कोमल तथा लचीली होती है क्योंकि वे मुख्यतः उपस्थित (कार्टिलेज) द्वारा निर्मित होती है। ये उपस्थियाँ मानव शरीर में कई अंगों में पाए जाने वाले संयोजी उत्तक होते हैं जिनमें अस्थियों के मध्य के जोड़ कान, नाक, कोहनी, घुटना, टखना, ब्राकायल ट्यूब (श्वासनली) तथा अन्तरमेरूदंडीय डिस्क सम्मिलित है। यह हड्डी सख्त तथा कम लचीली होती है। बच्चे जैसे–जैसे बड़े होते जाते हैं उनकी हड्डियाँ अधिक विस्तृत तथा लम्बी होती जाती है। हड्डियों के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया को ओसीफीकेशन अथवा अस्थि–निर्माण कहा जाता है। यह प्रक्रिया प्रथम वर्ष के शुरू में आरंभ हो जाती है तथा युवावस्था तक पूर्ण होती है। जन्म के समय बच्चों में लगभग 305 हड्डियाँ होती हैं। युवावस्था तक इनकी संख्या लगभग 206 तक हो जाती है। यद्यपि किसी शिशु की

हड्डियाँ आसानी से नहीं टूटती परंतु कोमल और लचीली होने के कारण उनमें विकृति तथा विरूपता आ जाती है। अस्थि विकास की दृष्टि से जन्म के समय लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक विकसित होती हैं। उत्तर बाल्यावस्था में शरीर की अस्थियाँ अधिक लम्बी तथा चौड़ी हो जाती हैं, तथापि अस्थिबंधों का अस्थियों के साथ संयोजन अन्य अस्थियों से होता है, जिससे मानव शरीर में जोड़ों का निर्माण होता है। कुछ अस्थिबंध जोड़ों की गतिशीलता को सीमित कर देते हैं अथवा कुछ गतियों को पूर्णतः प्रतिबंधित कर देते हैं। बढ़ते हुए मांसपेशीय बल के साथ संयोजित होने पर यह बच्चों में असाधारण गतिनम्यता (लचीलापन) प्रदान करते है। जैसे–जैसे उनका शरीर मजबूत होता जाता है, बच्चे शारीरिक गतिविधि अधिक करते हैं।

क्या आप जानते हैं कि हमारे शरीर में माँसपेशियों की क्या भूमिका है? माँसपेशियाँ हमारे शरीर के अंगों के संचालन में जैसे, हृदय, पाचनतंत्र इत्यादि में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे शक्ति तथा क्रियाकलाप समन्वय के लिए भी उत्तरदायी होती है। समय और अभ्यास के साथ–साथ छोटी माँसपेशियाँ परिपक्व हो जाती हैं और बच्चे बढ़ते हुए जटिल क्रियाकलाप को संपादित करते हैं। बच्चे को अपनी मांसपेशियों पर समय के साथ बेहतर नियंत्रण होता जाता है तथा किशोरावस्था तक पहुँचते–पहुँचते छोटी माँसपेशियाँ भी परिपक्व हो जाती हैं। यदि बच्चों को पौष्टिक भोजन और नियमित दिनचर्या के साथ शारीरिक क्रियाकलाप तथा उपयुक्त विश्राम दिया जाए तो माँसपेशियाँ तथा वसीय उत्तकों का सम्यक विकास संभव है। हड्डियों तथा माँसपेशियों के विकास में व्यापक व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती है। एक–ही आयु के दो बच्चों के विकास में भिन्नताएँ देखी जा सकती है। बच्चों के शारीरिक विकास में माँसपेशियों के विकास के साथ–साथ दाँतों की संरचना का भी योगदान है।

7 दंत संरचना में परिवर्तन

शैशवावस्था में बच्चों के दाँतों की संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। सभी बच्चों में दाँतों का आना क्रमिक रूप से सम्पन्न होता है, फिर भी उनमें अत्यधिक भिन्नता दिखाई देती है। जब भ्रूण 6 सप्ताह का होता है तभी से बच्चे के दाँत आने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। पहला दाँत 6 महीने से 12 महीने की आयु तक आ जाता है और औसत रूप में 7 महीने में आना शुरू हो जाता है। ढ़ाई वर्ष की आयु के अंदर बच्चों के दाँतों की संख्या 20 तक हो जाती है। ये दाँत अस्थाई होते हैं जिन्हें प्रायः प्राथमिक या दूध के दाँत कहे जाते हैं। लगभग 6 वर्ष की आयु तक अधिकांश बच्चों के दूध के दाँत टूटने लगते हैं। संयुक्त दाँतों से आरंभ करते हुए उनके स्थायी दाँत आने आरंभ हो जाते हैं। 6–12 वर्ष तक की आयु तक सभी दूध के दाँतों के स्थान पर स्थाई दाँत आ जाते हैं। इस प्रक्रिया में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के दूध के दाँत थोड़ा पहले टूटते हैं। सर्वप्रथम सामने के दाँत फिर ऊपर और नीचे के दाँत टूटते हैं। प्रथम मोलर (चर्वण दंत या दाड़) लगभग 6 वर्ष तक की आयु तक निकल आते हैं। ये स्थाई दाँत होते हैं जो दूध के दाँत के एकदम पीछे होते हैं। 13 वर्ष की आयु तक द्वितीय मोलर (दाड़े) दिखाई देने लगते हैं और अब बच्चे के 28 दाँत हो जाते हैं। अंतिम चार दांत जिन्हे अक्ल दाड़ भी कहते है, 17 से 25 वर्ष की आयु के बीच (यदि उगते हैं तो) आ जाते हैं। दाँत आने की आयु प्रत्येक बच्चे के लिए अलग–अलग हो सकती हैं सामान्यतः लड़कियों के दाँत लड़कों की अपेक्षा शीघ्र आ जाते है।

8.मस्तिष्क का विकास

बच्चों का मस्तिष्क विकास उनके अन्य विकासों का आधार है। इन हिस्से में हम मस्तिष्क विकास के बारे में पढ़ेंगे और उसके प्रभाव को समझेंगे। आपने सुना होगा कि बच्चे जन्म के समय ही लगभग पूर्ण रूप से विकसित मस्तिष्क लेकर आते हैं। अमूमन गर्भ के पाँचवे सप्ताह से बीसवें सप्ताह तक, 50,000 से 1,00,000 मस्तिष्क की कोशिकाओं का विकास होता है। छः महीने के बच्चे के दिमाग का वजन वयस्क स्थिति का आधा हो जाता है। और छः साल की उम्र तक लगभग 90 प्रतिशत वजन हासिल कर लेता है। परन्तु मानसिक विकास का ठीक से होना या नहीं होना बच्चों द्वारा जन्मोपरान्त होने वाले अनुभवों पर निर्भर करता है।

मस्तिष्क की कोशिकाएं बाकी शरीर की कोशिकाओं से अलग होती हैं। वे एक–दूसरे से बिल्कुल सटकर नहीं रखी होतीं। उनके बीच में दूरी होती है। कोशिका से निकले रेशे, एक–दूसरे से सम्पर्क बनाते हैं। कोशिकाओं का जीवित रहना उन्हें मिलने वाले उद्दीपन पर निर्भर कता है। जिन कोशिकाओं को वातावरण से उत्तेजनाएं मिलती रहती हैं वे नए सम्पर्क बनाती हैं और जीवित रहती हैं, जिन्हें कोई उत्तेजना नहीं मिलती वे मर जाते हैं। इसलिए बच्चों के शुरूआती सालों में जब दिमागी कोशिकाएं नए–नए सम्पर्क बना रही होती हैं उन्हें उपयुक्त उद्दीपन मिलना आवश्यक है। सुनना, छूना, चखना, देखना इत्यादि मस्तिष्क विकास के लिए आधार बनते हैं। यानि यह कहा जा सकता है कि शुरूआती अनुभव और पोषण जीवनपर्यन्त चलने वाली सीखने की प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

जन्म के समय बच्चे का ज्यादातर वजन सिर में होता है पर अगले दो सालों में यह वयस्क के जैसे डीलडौल और अनुपात प्राप्त करने लगते हैं। इस समय बच्चों के सिर का नाप भी बढ़ता जाता है और उसके सिर की परिधि नापकर जाना जा सकता है। दिमाग के अलग–अलग हिस्सों की अलग–अलग जिम्मेदारी होती है, जैसे, ज्ञानेन्द्रियों से जानकारी हासिल करना, शरीर को हिलने का आदेश देना आदि। विमित्र शोध से यह पता चलता है कि इन हिस्सों का विकास एक क्रम में होता है। यह देखा गया है कि मस्तिष्क के उस हिस्से का विकास पहले होता है जो सिर, बाजू और सीने को नियंत्रित करते हैं, बजाय उसके जो पैरों को नियंत्रित करते हैं। दिमाग के आगे का हिस्सा जो विचारों और चेतना के लिए जिम्मेदार है, वह सबसे आखिर में विकसित होता है। ठीक से क्रियाशील यह लगभग 2 साल की उम्र में होता है पर इसका विकास 20–30 साल की उम्र तक चलता रहता है।

मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों में सम्पर्क बनाए रखने के लिए रेशों का एक बंडल इन्हें जोड़ता है। इस बंडल का विकास पहले साल के खत्म होने के करीब–करीब शुरू होता है और 4–5 साल की उम्र तक यह काफी विकसित हो जाता है। नतीजतन इस उम्र के बच्चे वे दक्षताएं हासिल करने लगते हैं जिनमें दोनों गोलार्धों की जरूरत पड़ती है, जैसे, दोनों हाथों से अलग–अलग चीज छूकर उन्हें पहचानना या अंतर बताना।

छः साल का होते–होते बच्चों के सीखने की नींव तैयार हो जाती है। इस समय में पालकों द्वारा दिए गए अनुभवों और प्रेमपूर्ण रिश्तों का गहरा प्रभाव पड़ता है।

जैसा कि आप भी जानते होंगे कि दिमाग के दायें और बायें हिस्से अलग–अलग जिम्मेदारियाँ निभाते हैं। यह शोधकर्ताओं के लिए एक अग्रणी मुद्दा रहा है क्योंकि यह हमें

दिमाग के लचीलेपन को जानने में मदद करता है। 1960 के दशक तक यह माना जाता था कि हिस्सों का विशिष्टीकरण दो साल की उम्र तक नहीं होता था। पर अब हम यह जानते है कि विशिष्टीकरण की प्रक्रिया जन्म के समय प्रारम्भ हो चुकी होती है और अगले कुछ वर्षों में पूर्ण होती है। ऐसा भी देखा गया है कि ऑपरेशन द्वारा किसी–किसी बच्चे का पूरा या लगभग पूरा दिमागी गोलार्ध हटा दिया गया पर वे भाषा और स्थानिक क्रियाओं को बचे हुए गोलार्ध द्वारा क्रियान्वयन करने में सक्षम थे।

जैसा कि हमने पहले भी बात की कि जब मस्तिष्क का तीव्र विकास हो रहा होता है तब अभिभावकों की भूमिका अहम हो जाती है। बच्चों को ऐसा वातावरण देना जो सीखने एवं समझ बनाने को प्रोत्साहित करें, पौष्टिक भोजन मिले, ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजना मिले, जहाँ तनाव न हो और मजे से चीजों को उलटने–पलटने की आजादी हो, उनके मस्तिष्क विकास को सम्बलन देगा और जीवन पर्यन्त सीखने के लिए तैयार करेगा। चुनौतियाँ और उलटना–पलटना बच्चों को सक्रिय बनाते हैं। इसलिए बच्चों का मानसिक विकास उनके क्रियाशील होने से जुड़ा है। जब बच्चे चलना शुरू करते हैं और नई–नई चीजों से रूबरू होते हैं तो मस्तिष्क विकास की गति तीव्र होती है।

• मनोगत्यात्मक विकास की समझ

बच्चों के सर्वांगीण विकास में उनके मनोगत्यात्मक विकास का होना अति आवश्यक है। मनोगत्यात्मक विकास का संबंध मांसपेशियों के कार्य तथा शरीर में गतियों या क्रियाओं की उत्पत्ति से है, जो मानसिक क्रिया के सचेतन नियंत्रण के अन्तर्गत होती है। क्रो एवं क्रो ने भी अपनी पुस्तक "बाल–विकास एवं समायोजन" में लिखा है, "गामक योग्यताओं तथा क्षमताओं से तात्पर्य उन विभिन्न प्रकार की शारीरिक गतियों अथवा क्रियाओं से है जिनके संपादन की कुँजी नाड़ियों और मांसपेशियों के संयोजन से होती है।"

हरलॉक (Hurlock, 1978) ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है, "मांसपेशियों तंत्रिकाओं तथा तंत्रिका केन्द्रों की समन्वित क्रियाओं द्वारा शारीरिक गति पर नियंत्रण प्राप्त करना मनोगत्यात्मक विकास कहलाता है।

गत्यात्मक विकास संबंधी अवधारणा में निम्न बातों का समावेश पाया जाता है–

- बालक की केवल गामक या गत्यात्मक योग्यताओं तथा शक्तियों के विकास को शामिल किया जाता है।
- इन शक्तियों के विकास से बालक अपनी शारीरिक गतिविधियों पर उचित नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम होता जाता है।
- शारीरिक गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित करने में बालक के स्नायु या स्नायु संस्थान तथा मांसपेशियों की प्रधान भूमिका रहती है।
- नियंत्रण स्थापित करने की सक्षमता बालक में आयु के साथ–साथ परिपक्वता तथा अनुभवों के मिले–जुले प्रभाव के फलस्वरूप आती है।

कक्षा 1 तथा कक्षा 5 के बच्चों के द्वारा चित्र में रंग भरे जाने का यदि हम अवलोकन करें तो यह पायेंगे कि कक्षा 1 के बच्चों द्वारा रंग भरने के दौरान जितना रंग तस्वीर से बाहर आया, उतना रंग कक्षा 5 के बच्चों द्वारा नहीं आया। एक–ही कक्षा के दो अलग–अलग

बच्चों में भी रंग भरने की कुशलता में अन्तर दिखता है। हम कह सकते हैं कि मनोगतिक विकास, गत्यात्मक कौशल से निर्देशित होता है, जैसे गति, समन्वय, परिचालन, दक्षता, बल तथा चाल।

मनोगत्यात्मक विकास में मुख्य रूप से दो प्रकार के कौशल सम्मिलित होते हैं–

1. स्थूल गत्यात्मक कौशल

स्थूल गत्यात्मक कौशल वे योग्यताएँ होती हैं जो शैशवावस्था के दौरान अर्जित की जाती हैं। ये स्थूल गतियाँ बड़ी मांसपेशियों समूहों से आती है और समस्त शरीर को गति प्रदान करती है।

स्थूल गत्यात्मक कौशल

चलना, दौड़ना, कूदना, पैरों से प्रहार करना, आत्मविश्वास से चल पाना, नृत्य करना इत्यादि।

जब तक बच्चे 2 वर्ष के होते हैं लगभग सभी बच्चे खड़े होना, चलना, दौड़ना तथा सीढ़ी चढ़ना सीख जाते हैं। ये कौशल प्रारंभिक बाल्यावस्था में पहले निर्मित होते हैं, इनमे सुधार आता है तथा फिर बेहतर रूप से नियंत्रित होते हैं।

बच्चे के जीवन में गत्यात्मक विकास में सबसे बड़ा मील का पत्थर ''चलना'' है। चलने से बच्चा अधिक कुशलतापूर्वक रूप से अपने इर्द–गिर्द घूम सकता है और उसके हाथ स्वतंत्र हो जाते हैं। इसमें बच्चा अपने आसपास की वस्तुओं को प्रभावित कर इधर–उधर करने में सक्षम हो जाता है। यदि चलना सीखने में विलंब होता है तो यह इस बात का संकेत है कि बच्चे को किसी–न–किसी प्रकार की समस्या है, जिसका संबंध उसके शारीरिक, मानसिक या सामाजिक–सांवेगिक स्वास्थ्य से है। बिना सहारा लिए चल सकने की औसत आयु 13 से 14 महीने होती है। यद्यपि कुछ बच्चे इससे कुछ पहले या कुछ बाद तक चलना आरंभ कर सकते हैं। चलने की योग्यता का विकास कुछ चरणों में होती है।

लगभग पाँच साल की आयु तक वह कूदने–फाँदने, दौड़ने तथा ऊपर चढ़ने में सक्षम हो जाता है। 6 वर्ष की आयु तक अधिकांश बच्चों में बैठने, चलने, दौड़ने, कूदने, धकेलने, खींचने, कसकर पकड़ने, फेंकने इत्यादि मूल प्रेरक कौशलों में प्रवीणता प्राप्त कर ली होती है। 6, 7 व 8 वर्ष के बच्चे श्रमसाध्य शारीरिक क्रियाकलाप करने लगते हैं और उनमें उनको आनंद आता है। 10 वर्ष की आयु में बच्चे विभिन्न प्रकार के खेल क्रियाकलाप में व्यस्त रहते हैं। इसका कारण है उनके स्थूल गत्यात्मक कौशलों का अधिक विकसित होना।

बच्चों के स्थूल गत्यात्मक विकास में चार मूल क्षमताओं यथा लचीलापन, संतुलन, फुर्ती, दक्षता तथा बल की प्रभाव्यता देखी जाती है। इन सारी क्रियाओं को बच्चों द्वारा खेल के दौरान अपनाई जानी वाली गतिविधियों में एवं दैनिक क्रियाकलापों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

2. सूक्ष्म गत्यात्मक विकास

सूक्ष्म गत्यात्मक कौशलों का संबंध छोटी मांसपेशियों की क्रियाओं से है जो शरीर के विभिन्न अंगों में होती हैं, जैसे अँगुलियों में। प्रायः इन सबका आँखों के साथ समन्वय होता है।

सूक्ष्म क्रियात्मक कौशल

वस्तु को पकड़ना, उठाना, जाँचना, परखना, बटन लगाना, चम्मच–गिलास पकड़ना, लिखना इत्यादि।

प्रारंभिक आयु के बच्चों में सूक्ष्म गत्यात्मक कौशल में समय के साथ सुधार आता रहता है। 5 या 6 वर्ष की आयु तक बच्चे सरल तथा छोटी माँसपेशियों की क्रियाओं में अँगुलियों तथा हाथों में समन्वय करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जैसे लिखने में, चित्रकारी में, काटने में, सीना–पिरोने में, क्राफ्ट कार्य में इत्यादि। इस अवस्था पर बच्चे के सूक्ष्म गत्यात्मक कौशल प्रारंभिक अवस्था में होते हैं। तथापि जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है, इनमें सुधार आता रहता है। 6 वर्ष की आयु से 10 वर्ष तक इन कौशलों की प्राप्ति में निरंतर सुधार आता रहता है।

6 वर्ष की आयु तक अधिकांश बच्चे यथोचित स्पष्टता के साथ वर्णमाला लिख सकते हैं। अपना नाम लिख सकते हैं तथा एक से 10 तक की संख्याओं को लिख सकते हैं, तथापि उनकी लिखावट काफी बड़ी होती है, क्योंकि उनके प्रयास में संपूर्ण बाजू सम्मिलित हो जाती है। धीरे–धीरे जैसे वे एक जैसी ऊँचाई तथा स्थान के साथ अधिक शुद्ध वर्ण लिखने लगते हैं। उनकी लिखावट में सुधार आता रहता है। जैसे–जैसे बच्चे प्रारंभिक कक्षाएँ पास करते जाते हैं, लिखावट में इन अन्तरों को स्पष्ट रू‍ से देखा जा सकता हैं। यदि सीखने और अभ्यास का अवसर दिया जाए तो बच्चे इन कौशलों को शीघ्र ही प्राप्त कर सकते हैं। सूक्ष्म गत्यात्मक कौशलों की प्राप्ति में पर्याप्त विभिन्नता देखने को मिलती है। बच्चा उन कार्यों को करना सीख जाता है, जिनके लिए उनमें योग्यता है, तथा उसे करने के अभ्यास का पर्याप्त अवसर मिलता है। बच्चा जैसे–जैसे बड़ा होता जाता है, उसके द्वारा अर्जित सूक्ष्म गत्यात्मक कौशलों में निरंतर सुधार होता रहता है। इन कौशलों में सुधार न केवल पूर्व बाल्यावस्था तक जारी रहता है अपितु उत्तर बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था तक भी चलता है। इन सूक्ष्म गत्यात्मक कौशलों के विकास का ढ़ाँचा लड़के और लड़कियों, दोनों के लिए एक जैसा होता है।

हस्तिकता– यह सूक्ष्म गत्यात्मक विकास से संबंधित एक रोचक अवधारणा है। हस्तिकता का अर्थ है किसी एक हाथ का, दूसरे हाथ की अपेक्षा अधिक प्रयोग। यदि मस्तिष्क का बाँया गोलार्द्ध, दाएँ की अपेक्षा अधिक विकसित है तो संभावना है कि वह वह बच्चा वाम हस्तिक (Left Handed) होगा। बुद्धि कौशल या व्यक्तित्व से हस्तिकता का कोई संबंध नहीं है।

बच्चों के शारीरिक तथा मनोगत्यात्मक विकास के संक्षेपण के लिए नीचे माईलस्टोन चार्ट दिया गया है–

शारीरिक और मनोगत्यात्मक विकास माइल–स्टोन चार्ट (विभिन्न आयु समूहों के लिए)	
आयु	**विशेषताएँ**
2 वर्ष	• छोटे शिशुओं की तुलना में ऊँचाई और वजन में वृद्धि की दर धीमी होती है। • संतुलन में सुधार तथा चलना अधिक समन्वित बन जाता है। • दौड़ना, कूदना, फुदकना, फेंकना तथा पकड़ना इत्यादि कौशल विकसित होते हैं। • चम्मच का प्रयोग प्रभावी ढंग से कर सकता है।
3 से 4 वर्ष	• दौड़ना, कूदना, फुदकना तथा पकड़ना अधिक समन्वित होता है। • सरपट दौड़ना तथा एक पैर पर कूदना आदि क्रियाएँ करने लगता है। • ट्राई साइकिल चलाने लगता है। • कैंची का प्रयोग करने लगता है तथा व्यक्ति की प्रथम आकृति बनाता है। • लेखन और गैर–लेखन में अन्तर बता देता है।
5 से 6 वर्ष	• शरीर सीधा और सरल बनने लगता है तथा प्रौढ़ों की भाँति समानुपातिक लम्बी टाँगे। • पहले स्थाई दाँत उगने लगते हैं। • रस्सी कूदना आरंभ करता है। • पकड़ने और फेंकने में परिपक्वता दिखने लगती है। • जूतों के फीते बाँधने लगता है, अधिक जटिल आकृतियाँ बनाने लगता है और नाम लिखता है।
6 से 8 वर्ष	• किशोरावस्था तक ऊँचाई और भार में धीमी वृद्धि जारी रहती है। • प्राथमिक दाँतों के स्थान पर शनैः–शनैः स्थाई दाँत आते रहते हैं। • लिखावट छोटी और पढ़ने योग्य बनती है। • वर्ण उत्क्रमण या उलटाव में कमी आती है। • चित्रकला अधिक व्यवस्थित तथा विस्तृत होती है, जिसमें गहराई के संकेत होते हैं। • नियमानुसार खेल खेलना सामान्य प्रतीत होता है।
9 से 12 वर्ष	• लड़कियों में लड़कों की तुलना में किशोर वृद्धि प्रस्फुटन 2 वर्ष पूर्व ही आ जाता है। • दौड़ने, कूदने, फेंकने, पकड़ने, ठोकर मारने, बैटिंग करने तथा ड्रिब्लिंग इत्यादि स्थूल गत्यात्मक कौशलों को अधिक तीव्रता तथा बेहतर समन्वय के साथ प्रदर्शित करना। • प्रतिक्रिया समय में सुधार आता है जिससे गत्यात्मक कौशल विकास में वृद्धि होती है। • चित्रकला में गइराई का निरूपण बढ़ जाता है।

स्त्रोतः लूरा, ई बर्क (2007)

शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक

शैशवावस्था से किशोरावस्था तक की अवधि में पोषण, अनुवांशिकता, खेल–कूद एवं योग, संक्रामक बीमारियाँ जैसे कुछ चिह्न उपर्युक्त शारीरिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं।

पोषण

पोषण वह अनिवार्य कारक है जो बच्चों के विकास और वृद्धि को प्रभावित करते हैं। बालक/बालिकाओं के संतुलित शारीरिक विकास के लिये संतुलित भोजन का होना अत्यन्त जरूरी है। संतुलित भोजन वैसे भोजन को कहते हैं, जिसमें विभिन्न पोषक तत्व जैसे, कार्बोहाईड्रेट, प्रोटीन, वसा, विटामिन, खनिज लवण तथा जल प्रचुर मात्रा में होते हैं। उचित शारीरिक विकास के लिये इन सभी पोषक तत्वों की आवश्यकता बालक की आयु, क्रिया–कलाप तथा शरीर आकार के अनुसार होती है। यदि किसी व्यक्ति को आवश्यकता से बहुत कम पोषक तत्व मिल रहे हों, तो यह अल्पपोषण की स्थिति होती है।

इसके विपरीत, यदि व्यक्ति को अपने आहार द्वारा अपेक्षा से अधिक पोषक तत्व मिल रहा हो तो यह अतिपोषण की अवस्था है। यह दोनों ही स्थिति कुपोषण को परिलक्षित करती है। जीवन के प्रारंभिक वर्षों के दौरान कुपोषण से मस्तिष्क के कुछ भाग और तंत्रिका तंत्र स्थायी रूप से प्रभावित हो सकते हैं। कुपोषण से वृद्धि दर और गत्यात्मक समन्वय भी प्रभावित होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त कुपोषित बच्चे साधारणतः बहुत सक्रिय नहीं होते और गत्यात्मक कौशलों के साथ ही उनका संज्ञानात्मक विकास भी प्रभावित होता है।

भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के लिए जहाँ जनसंख्या, गरीबी, अशिक्षा, चिकित्सीय सुविधायें इत्यादि एक समस्या है, वहीं बच्चों को पोषण संबंधी स्थिति एक चिंता का विषय है। यूनिसेफ के अनुसार विश्व के एक तिहाई कुपोषित बच्चे भारत में रहते हैं। भारत सरकार द्वारा समय–समय पर इस समस्या से निपटने के लिए विभिन्न योजनाएँ आते रहे हैं। आइए इस पर नजर डालें।

लक्षित समूह	योजनाएँ	महत्त्वपूर्ण योजनाओं की मुख्य सेवाएँ
बच्चे (3–6 वर्ष)	ICDS	ICDS - अनौपचारिक स्कूल पूर्व शिक्षा, वृद्धि, निगरानी, संपूरक पोषण, देखभाल करने वालों को स्वास्थ्य शिक्षा एवं परामर्श।
	RCHAII, NRHM	टीकाकरण, सूक्ष्म पोषण तत्व सम्पूरक खुराक देना, पेट के कीड़ों का उपचार, स्वास्थ्य जाँच, बीमारियों एवं गंभीर कुपोषण का प्रबंधन।
स्कूल जानेवाले बच्चे (6–14 वर्ष)	मध्याह्न भोजन (MDM)	स्कूल आने वाले बच्चों को ताजा पकाया हुआ भोजन उपलब्ध कराना।
	सर्वशिक्षा अभियान (SSA)	औपचारिक शिक्षा, विषयवस्तु तथा पाठ्यक्रमों में पोषण संबंधी विषयों को शामिल करते हुए पोषण संबंधी ज्ञान के प्रचार में सहायता, स्कूल में स्वास्थ्य जाँच, मध्याह्न भोजन।
किशोरियाँ (11–18 वर्ष)	राजीव गाँधी किशोरी सशक्तीकरण योजना (R.G.S.E.A.G), किशोरी शक्ति योजना (N.R.H.M)	R.G.S.E.A.G. –संपूरक पोषण, आयरन, फोलिक एसिड संपूरक, किशोरियों को व्यवसायिक प्रशिक्षण N.R.H.M. - आयरन एवं फोलिक एसिड का साप्ताहिक संपूरक खुराक देना।

	संपूर्ण स्वच्छता अभियान (T.S.C.)	T.S.C. – स्वच्छता सभी तक पहुँचे।
	राष्ट्रीय ग्रामीण पेयजल कार्यक्रम (NRDWP)	NRDWP – सुरक्षित पेयजल सभी तक पहुँचे।

आनुवांशिकता

बच्चे के शारीरिक तथा मनोगत्यात्मक विकास आनुवांशिकता द्वारा भी निर्धारित होता है। क्रो एण्ड क्रो "व्यक्ति का शारीरिक विकास प्रकृति और पोषण दोनों के द्वारा निर्धारित होता है।" आनुवांशिक प्रक्रिया के दो महत्त्वपूर्ण घटकों में जीन तथा क्रोमोसोम आते हैं। जीन जैविक ब्लूप्रिंट होते हैं जो सभी आनुवांशिक शीलगुणों एवं विशेषताओं को सीधे रूप में निर्धारित एवं हस्तांतरित करते हैं। जीन DNA तथा प्रोटीन के बने होते हैं और क्रोमोसोम की संरचना में स्थित होते हैं।

बच्चों के विकास की दिशा व दशा निर्धारित करने में परिवार, शिक्षक एवं जन–संचार की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण होती है।

हम अपने आसपास देखते हैं कि एक ही माता–पिता के बच्चे उनके जैसी ही ऊँचाई के होते हैं एवं सामान्य चेहरा होता है। अतः हम बता सकते हैं कि ये भाई–बहन हैं। इसके विपरीत यदि माता–पिता लम्बे हैं एवं बच्चा छोटे कद का है तो लोग आश्चर्य करते हैं कि बच्चा छोटा कैसे रह गया। आइए देखें कि माता–पिता के जीन्स किस प्रकार से बच्चों के शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैंः–

बच्चे का शारीरिक विकास जीन्स से निर्धारित होता है। समरूपी जुड़वा बच्चे शारीरिक आकार में विषयरूपी जुड़वा बच्चों की तुलना में अधिक समानता रखते है, परन्तु जन्म के समय समरूपी बच्चे शारीरिक विकास की दृष्टि से अधिक असमान होते हैं। क्योंकि जन्म से पूर्व वे एक ही प्लासेन्टा (नाल) से अपना पोषण प्राप्त करते हैं। स्वाभाविक है कि इस परिस्थिति में किसी एक को ही अधिक पोषण मिलने के कारण ऐसा होता है। जन्म के पश्चात यदि दोनों को समान पोषण मिले तो कुछ ही माह में कमजोर/छोटा बच्चा भी अपने जीन्स द्वारा निर्धारित वास्तविक वृद्धि/बढ़त को प्राप्त कर लेता है। जीन्स शरीर में हार्मोन्स के विकास व संवेदनशीलता को भी निर्धारित करते हैं, परन्तु हार्मोन्स की उत्पत्ति को दवाइयों व पोषण द्वारा भी कम–ज्यादा किया जा सकता है। समान वातावरण /परिस्थिति में शरीर की वृद्धि/ऊँचाई व शारीरिक परिपक्वता जीन्स से बच्चे एक अथवा दो माह मे ही एक जैसे दिखाई देने लग जाते हैं, जबकि विषमरूपी बच्चों में यह अंतर लगभग एक वर्ष तक दिखाई देता है। इस प्रकार जीन्स द्वारा निर्धारित शारीरिक विकास के किसी भी पक्ष की स्वाभाविक पूर्ति उचित वातावरण व पोषण पर निर्भर करती है।

खेलकूद एवं योग

बच्चों के शारीरिक विकास में खेलकूद का बहुत अधिक महत्व होता है। जो बच्चे जन्म के पश्चात जितने अधिक क्रियाशील होते है, उम्र बढ़ने के साथ–साथ जितना अधिक

खेल–कूद करते हैं उनका शारीरिक विकास उतना ही स्वाभाविक तरीके से (जीन्स द्वारा प्रभावित अवस्था में) होता है। बच्चे अपनी अभिव्यक्ति भी खेलकूद व शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से ही अधिक सहज रूप से कर पाते हैं। अतः यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि परिवार में माता–पिता व अन्य सदस्य अथवा बच्चा जहाँ पल रहा है वे लोग इस बात को अच्छी तरह समझें कि बच्चों के शारीरिक विकास हेतु खेलकूद व शारीरिक व्यायाम का बहुत महत्व है। प्रायः भारतीय परिवारों मे अधिक खेलकूद करने वाली लड़कियों के प्रति आम राय होती है कि उन्हें अधिक उछलकूद नहीं करना चाहिए। अधिक समय घर में रहना चाहिए, परन्तु ऐसा करते समय परिवार के लोग यह भूल जाते है कि लड़कियों के शारीरिक विकास हेतु भी खेलना कूदना आवश्यक है। उचित शारीरिक विकास न होने पर बच्चों में इसका प्रभाव अन्य आयामों जैसे संवेगात्मक, भावात्मक विकास पर भी दिखाई देता है।

विद्यालय आने के पश्चात शिक्षकों की भी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है कि बच्चों को अधिक–से–अधिक शारीरिक गतिविधियाँ व क्रियाएँ जिसमें विभिन्न खेलकूद,यौगिक क्रियाओं का भी समावेश हो।

बच्चों के शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास को संतुलित एवं पूर्ण विकसित करने में योग एवं व्यायाम काफी प्रभावी एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसलिए सम्पूर्ण शारीरिक शिक्षा जन्मकाल से ही प्रारम्भ कर देनी चाहिए तथा जीवन भर चलती रहनी चाहिए। यदि हम योग के मुख्य पक्षों की बात करें तो इसके मुख्य पक्ष निम्नलिखित हैं:–

1. शरीर की क्रिया–प्रणाली पर नियंत्रण एवं संतुलन रखना।
2. सभी शारीरिक खण्ड/भागों व गतियों का सुसंगत–व्यवस्थित तथा सर्वसमावेशी विकास करना।

संक्रामक बीमारियाँ

शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में संक्रामक रोग एक महत्त्वपूर्ण कारक है। जिन बच्चों की जन्म से ही रोग प्रतिरोधक क्षमता कम होती है उनके बार–बार बीमार पड़ने की संभावना अधिक होती है तथा उचित पोषण मिलने पर भी ऐसे बच्चों का शरीर उसे सही तरीके से ग्रहण नही कर पाता है। जो बच्चे जन्म से स्वस्थ होते है अथवा उनको रोग प्रतिरोधक क्षमता अच्छी होती है, ऐसे बच्चे भी वातावरण से अथवा अन्य रोगी व्यक्ति के संपर्क में आने पर बीमार हो सकते हैं। कुछ बच्चे जन्म से स्वस्थ होते हैं परन्तु उचित पोषण न मिलने पर कुपोषण के शिकार हो जाते हैं। ऐसे बच्चों के बीमार होने तथा अन्य बीमारियों से संक्रमित होने की संभावना बढ़ जाती है। अतः बच्चों का इन बीमारियों से बचाव आवश्यक है। बच्चों के माता–पिता, परिवार व

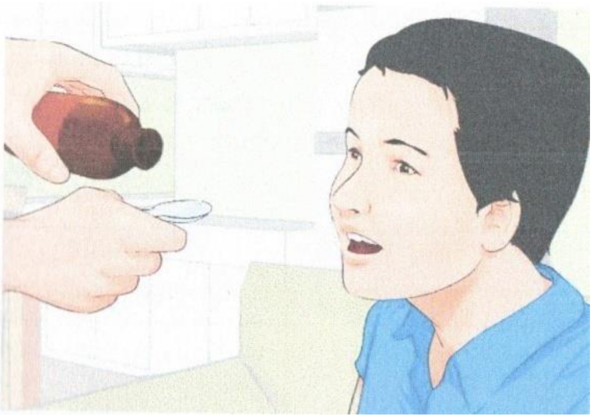

शिक्षकों की जिम्मेदारी है कि बच्चों का सही समय पर टीकाकरण करवाएँ व समाज के अन्य लोगों को भी इस हेतु प्रेरित करें।

बहुत सारी शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक बीमारियाँ या विकास की अपर्याप्तता से संबंधित जानकारी बाल्यावस्था में हो जाने पर दूर किया जा सकता है। संवेदी दोषों या कुछ मनोगत्यात्मक अक्षमताओं का उपचार कर उनको सुधारा जा सकता है। इन सारी अक्षमताओं में देखने, बोलने या सुनने वाली कठिनाईयां भी आती है। जटिल बीमारियों या दाँतों के दोषों को भी दूर किया जा सकता है या दूर करने की कोशिश की जा सकती है। अतः बच्चों के शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास में इनका निदानात्मक योगदान भी है।

• शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास में शिक्षकों तथा अभिभावकों की भूमिका एवं दायित्व

उपर्युक्त उपइकाई में हम जान चुके हैं कि बच्चे के शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास में आहार, पोषण, खेल, व्यायाम और योग की भूमिका काफी अहम होती है।

आइए, अब हम यह जानने का प्रयास करें कि शारीरिक विकास में अभिभावक और शिक्षक की भूमिका और दायित्व किस प्रकार अहम होती है। हमने देखा कि शारीरिक और मनोगत्यात्मक विकास आनुवांशिक तथा वातावरणीय दोनों प्रकार के कारकों से प्रभावित होते हैं। आनुवांशिक गुण वह है जो बच्चे अपने माता–पिता और पूर्वजों से प्राप्त करते हैं। साथ–ही–साथ उसके लालन–पालन, देख–भाल, जैसे, संतुलित आहार एवं पोषण, सामाजिक–आर्थिक स्थिति, परिवार का आस–पड़ोस, सांस्कृतिक परिवेश इत्यादि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जो उसे उसके अभिभावक द्वारा प्राप्त होती है।

बच्चों के शारीरिक विकास में व्यक्तिगत विभिन्नताएँ होती हैं। बच्चे का कद और भार का बढ़ना एक ढ़ांचे के अनुसार होता है, लेकिन शारीरिक और मनोगत्यात्मक विकास सही तरीके से हो इसमें अभिभावक उनकी मदद करते हैं, जैसे–अँगुली पकड़कर चलना, खड़ा होना सीखना, बैठना सीखना, झुकना सीखना इत्यादि। बालकों को संतुलित आहार, नियमित दिनचर्या साथ–ही–साथ, शारीरिक क्रिया–कलाप तथा उपयुक्त विश्राम देना अभिभावकों का दायित्व है जिससे बालकों की मांसपेशियों तथा वसीय उत्तकों के स्वस्थ विकास को बढ़ावा मिलता है।

सौरभ आठ वर्ष का बच्चा है जो कक्षा तीन मे पढ़ता है। उसकी माँ उसके संतुलित आहार का ध्यान रखती है और उसके गृह कार्यों में उसकी मदद भी करती है। खेलने में उसकी काफी रूचि है वह हमेशा खेलों में भाग लेता है और जीत हासिल करता है।

दूसरा बच्चा सोहन जिसकी उम्र भी आठ वर्ष है और वह अपने भाई बहनों में बड़ा है। उसे अपने दो छोटे भाई बहनों की भी देखभाल करनी पड़ती है। उसे संतुलित आहार भी नहीं मिल पाता है। उसे खेलने का भी समय नहीं मिलता है। सोहन का वजन और लम्बाई सौरभ के वजन और लम्बाई से कम है।

आपने उपर्युक्त दोनों बालकों की स्थिति के बारे में जाना। अब सौरभ और सोहन दोनो बालकों की स्थिति पर विचार करें तथा उनके शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास की गति सही–सही तरीके से होगी या नहीं स्पष्ट करें। यदि नहीं तो क्यों?

आइए अब हम ऊपर दिए गए बातों को उदाहरण द्वारा समझने की कोशिश करते हैं।

राधा : रानी, तुम्हारी बेटी तो एक वर्ष में ही चलना शुरू कर दी।

रानी : हाँ, मैने और परिवार के अन्य सदस्यों ने इसके आहार एवं शरीर (हाथ–पैर) की मालिश पर पूरा ध्यान दिया, जिससे यह जल्दी चलने लगी।

राधा : सही बोल रही हो, मीना की बेटी भी एक वर्ष की हो गई है। लेकिन वह चलती नहीं है।

असल में उसके घर के सदस्य बच्ची के खान–पान और मालिश पर ध्यान नहीं देते हैं।

रानी : राधा, यह समय बच्चों के समुचित विकास का होता है, इसलिए हम अभिभावकों को बच्चों की सही देखभाल अवश्य करनी चाहिए, नहीं तो उनका सही ढ़ंग से शारीरिक विकास नहीं हो पाता है और वे समय पर चलना, दौड़ना, खेलना नहीं सीख पाते हैं। उन्हें बढ़ती उम्र में बड़ों के सहयोग और प्यार की भी बहुत जरूरत होती है।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी बच्चों में शारीरिक विकास एक समान नहीं होता है। शिशु की हड्डियाँ आसानी से नहीं टूटती परन्तु कोमल और लचीली होने के कारण उनमें विकृति तथा विरूपता आ जाती है। यदि अभिभावक द्वारा उनकी देखभाल सही तरीके से नहीं होती है तो बच्चे के शारीरिक विकास में विकृति आ जाती है। परिणामस्वरूप लोगों द्वारा उन्हें नाटा, मोटू, मरियल या ढीलू जैसे शब्दों से सम्बोधित किया जाता है, जो उनके आगे की क्रिया–कलापों को भी प्रभावित करता है।

अतः यह आवश्यक है कि वे बच्चे जो दूसरों से भिन्न हैं, उन्हें नकारात्मक शब्दों द्वारा चिह्नित नहीं किया जाए और अभिभावकों का भी यह दायित्व है कि समय पर विशेषज्ञों, डाक्टरों तथा मनोवैज्ञानिकों की सहायता से उनकी समस्याओं को दूर करें।

शिक्षकों की भूमिका

शारीरिक विकास व्यक्तित्व के सभी पक्षों का विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसलिए इस पर विशेष ध्यान दिया जाना अति आवश्यक है। बच्चे अपने बचपन तथा किशोरावस्था का एक सार्थक भाग विद्यालय में शिक्षकों के साथ बिताते हैं। शिक्षक को वे अपना आदर्श मानते हैं तथा उनके व्यवहार से प्रभावित होते हैं। ऐसे में शिक्षक उनके शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे बच्चों में मौजूद खूबियों एवं कमियों को पहचान कर उनके अभिभावक को बता सकते हैं, जिससे उनके अभिभावक उन बच्चों के सम्पूर्ण विकास के लिए उचित कदम उठा सकें।

शिक्षक मुख्यतः दो कौशलों द्वारा बालकों के मनोगत्यात्मक विकास में सहयोग करते हैं। एक तो गत्यात्मक कौशल जैसे, व्यायाम, दौड़ना, खेल की क्रिया, नृत्य इत्यादि सीखाने के

माध्यम से तथा दूसरा सूक्ष्म गत्यात्मक कौशल जैसे, चित्रकला, लिखना, सिलाई करना, रंग भरना इत्यादि के प्रशिक्षण के माध्यम से। जैसे–जैसे बच्चे बड़े होते जाते हैं तथा ऊपर की कक्षा में जाते हैं उनके खेलने, चलने, उठने–बैठने इत्यादि का ढंग बदलने लगता है। उनमें भी शिक्षक द्वारा यह सुनिश्चित किया जाता है कि बच्चा बैठता कैसे है? खड़ा कैसे होता है? झुकता कैसे है? बच्चा जूता और कपड़ा सही ढंग से पहनता है या नहीं?

उपर्युक्त सभी बातें बच्चे के शारीरिक और मनोगत्यात्मक विकास के लिए ध्यान देने योग्य हैं जो उनके विकास मे सहायक होती हैं।

बच्चों को विभिन्न गुणों यथा खेल, चित्रकारी, विभिन्न प्रकार के दस्तकारी कार्य जैसे, सूत काटने, धातु कार्य, दर्जीगिरी, खिलौना बनाना, किताब मढ़ना, बागवानी, जूडो–कराटा इत्यादि सिखाने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। हम शिक्षक के रूप में बच्चों के व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रखकर उनके साथ अनुकूल व्यवहार कर सकते हैं।

हमें शिक्षा के अधिकार के अन्तर्गत समावेशी शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करना है। ऐसे में शिक्षक के रूप में हमारा यह कर्तव्य बनता है कि विशेष आवश्यकता वाले बच्चे, सामाजिक तथा आर्थिक रूप से पिछड़े बच्चे सभी को मुख्य धारा से जोड़कर उनके विकास में अपना योगदान दें। सारांश रूप से यह कहा जा सकता है कि शिक्षक विद्यार्थियों को इस प्रकार ढालते हैं कि विद्यार्थी अपने स्वास्थ्य को बनाए रखते हुए अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं का पर्याप्त विकास कर राष्ट्र के विकास में भरपूर योगदान दे सकें।

मूल्यांकन

1. विकास की विभिन्न अवस्थाओं में, बालक के शरीर में होने वाले परिवर्तनों को लिखें।
2 शैशवावस्था में बालक में होनेवाले मनोगत्यात्मक विकास की एक सारणी बनाकर स्पष्ट करें।
3 मनोगत्यात्मक कौशलों के प्रकार को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें।
4 बालक के शारीरिक तथा मनोगत्यात्मक विकास में अभिभावक की भूमिका का विश्लेषण करें।
5 बालक के शारीरिक एवं मनोगत्यात्मक विकास का ज्ञान, एक शिक्षक के लिए क्यों आवश्यक है?

गतिविधि

1 विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के खेल के कालांश का अवलोकन करें। मैदान में प्रत्येक बच्चे के व्यवहार से उसके बारे में क्या–क्या पता किया जा सकता है?

2 कक्षा 1, 4 एवं 7 के बच्चों को कोई तस्वीर बनाकर रंग भरने को कहें एवं इसे एक प्रतियोगिता का रूप दें। इससे कक्षा में बच्चों का उत्साह बना रहेगा। प्रतियोगिता के समाप्त होने पर विजेताओं की घोषणा करें। सभी चित्रों को एकत्रित करके अपने पास रखें और अवकाश में ध्यान से चित्रों का अध्ययन करें। चित्रों के अध्ययन का निष्कर्ष लिखें।

इकाई 3

बच्चों में सृजनात्मकता

परिचय

वैज्ञानिक तकनीकी तथा औद्योगिक विकास के आधुनिक युग में विभिन्न क्षेत्रों के अंतर्गत नित प्रतिदिन नूतन अविष्कार हो रहे हैं। इनमें से अधिकांश आविष्कारों के पीछे जहाँ वैज्ञानिकों का अथक परिश्रम छिपा है, वहीं उनकी सृजनात्मक सोच का भी कम योगदान नहीं है। मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है। वास्तव में संसार के समस्त प्राणियों में सृजनात्मकता पाई जाती है। किसी में कम मात्रा में सृजनात्मकता होती है तथा किसी में अधिक मात्रा में। प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति होती है। सृजनात्मकता वह योग्यता है जो व्यक्ति को किसी समस्या का विद्वतापूर्ण समाधान खोजने के लिए नवीन ढंग से हटकर किसी नये ढंग से चिंतन करने तथा कार्य करने की योग्यता ही सृजनात्मकता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ–न–कुछ मानसिक योग्यता अवश्य पाई जाती है जो व्यक्ति अपने इन योग्यताओं का नवीन एवं अनोखा ढंग से उपयोग करने में सफल होते हैं। आगे चलकर लेखक, कवि, संगीतज्ञ, कलाकर, वैज्ञानिक, खिलाड़ी इत्यादि बनते हैं। सृजनात्मकता सार्वभौमिक होती है तथा हममें से प्रत्येक व्यक्ति में कुछ–न–कुछ मात्रा में यह अवश्य ही पाई जाती है। यद्यपि सृजनात्मक योग्यता प्रकृति प्रदत्त होती है, परंतु प्रशिक्षण के द्वारा उसे विकसित भी किया जा सकता है। आज के इस प्रतिस्पर्धात्मक युग में किसी भी राष्ट्र की प्रगति के लिए उसके नागरिकों का कला, दर्शन, साहित्य, कृषि, विज्ञान एवं तकनीकी इत्यादि क्षेत्रों में सृजनात्मक होना पहली आवश्यक शर्त है। इस इकाई में सृजनात्मकता से सम्बंधित ऐसी अवधारणाओं की चर्चा की जाएगी जिनका प्रयोग प्रशिक्षुगण बच्चों की सृजनात्मकता को समझने के लिए कर सकेंगे।

आप अपनी कक्षा में इस बात से अवश्य ही अवगत हुए होंगे कि कक्षा का कोई खास विद्यार्थी आपके द्वारा किये गए किसी भी प्रश्न का उत्तर काफी नवीन एवं तर्कपूर्ण ढंग से देता है, वहीं दूसरा विद्यार्थी एक प्रतिभावान क्रिकेट खिलाड़ी है, तो किसी विद्यार्थी का गाना सुनकर आप मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। किसी विद्यार्थी के द्वारा की गयी चित्रकारी उसकी उम्र

के अन्य बच्चों की तुलना में काफी आकर्षक एवं अभिनव होता है, तो कोई विद्यार्थी नई–नई कविताओं एवं कहानियों की रचना कर डालता है। बच्चों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले इस नवीन एवं अनोखे व्यवहार का अध्ययन सृजनात्मकता या रचनात्मकता के अंतर्गत किया जाता है।

सृजनात्मकता (creativity): अवधारणा, बच्चों के सन्दर्भ में विशेष महत्व

सृजनात्मकता क्या है?

परिस्थिति – 1 : आप अपने विद्यालय के विद्यार्थियों को कागज का जहाज, नाव, पंखा, फूल इत्यादि बनाते हुए अवश्य ही देखे होंगे।

परिस्थिति – 2 : दस साल की हर्षिता फेंकी हुई ग्लास और रद्दी कागज के कुछ टुकड़े को उठाकर घर लाती है और उससे एक बहुत ही आकर्षक गुलदस्ता बनाती है।

परिस्थिति – 3 : कक्षा छः की छात्रा मधु अपने घर में पड़े बेकार एवं पुराने कपड़ों से पहले तो अपने लिए गुड़िया और फिर एक डोर मैट (पैर पोछने की चटाई) बनाती है। उपर्युक्त परिस्थितियों के आधार पर अपनी समझ के अनुसार नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश करते हैः–

1. अपनी समझ के आधार पर बताइए कि विद्यार्थियों का कागज से नाव, जहाज, पंखा, फूल इत्यादि बनाना क्या दर्शाता है?
2. हर्षिता प्लास्टिक के बेकार पड़े ग्लास एवं रद्दी कागज के टुकड़े से आकर्षक गुलदस्ता बनाती है। इससे आप क्या निष्कर्ष निकालते हैं?
3. मधु के द्वारा बेकार एवं पुराने कपड़ों से गुड़िया एवं डोर–मैट बनाने की क्रिया को आप किस रूप में देखते हैं?

उपर्युक्त तीनों परिस्थितियाँ बच्चों के नवीन तरीके से सोचने, तर्क करने एवं अपनी कल्पना को नवीन व्यवहार के रूप में प्रदर्शित करने की क्रिया को दर्शाता है। यह प्रक्रिया ही सृजनात्मकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नवीन विचारों, पद्धतियों या विधियों, कलाओं, सिद्धांतों इत्यादि का निर्माण ही सृजनात्मकता या रचनात्मकता कहलाता है। रचनात्मकता की अभिव्यक्ति जीवन के कई क्षेत्रों जैसे, दर्शन, कला, विज्ञान, प्रोद्योगिकी, साहित्य, राजनीति इत्यादि में हो सकती है। कला के क्षेत्र में बच्चों के सृजनात्मक योग्यताओं की अभिव्यक्ति निम्न रूपों में हो सकती हैः–

सृजनात्मकता का अर्थ

"सृजनात्मकता व्यक्ति की वह योग्यता है जिसके द्वारा वह उन वस्तुओं या विचारों का उत्पादन करता है जो अनिवार्य रूप से नए हो और जिन्हें वह पहले से न जानता हो। जो व्यक्ति इस प्रकार का नवीन कार्य करते हैं उन्हें सृजनशील या सृजनकर्ता कहा जाता है और जिस प्रातिभा के आधार पर वह नई कृति, नवीन रचना या नवीन आविष्कार करते हैं उसे सृजनात्मकता कहा जाता है। विख्यात विद्वानों ने सृजनात्मकता की परिभाषाएं प्रस्तुत करके इसके अर्थ को स्पष्ट करने की कोशिश की हैः–

स्टेगनर एवं कावौस्की के अनुसार, "किसी नई वस्तु का पूर्ण या आंशिक उत्पादन सृजनात्मकता कहलता है।"

ड्रेवगहल के अनुसार, "सृजनात्मकता व्यक्ति की वह योग्यता है जिसके द्वारा वह उन वस्तुआँ के विचारों का उत्पादन करता है और जो अनिवार्य रूप से नए हों और जिन्हें वह पहले से न जानता हो।"

स्किनर के अनुसार, "सृजनात्मक चिन्तन वह है जो नए क्षेत्र की खोज करता है, नए परीक्षण करता है, नई भविष्यवाणियां करता है और नए निष्कर्ष निकालता है।"

क्रो व क्रो, "सृजनात्मकता मौलिक परिणामों को अभिव्यक्त करने का मानसिक प्रक्रिया है।"

गिलफोर्ड के अनुसार, "सृजनात्मकता बालकों में प्रायः सामान्य गुण होते हैं, उनमें न केवल मौलिकता का गुण होता है वरन उनमें लचीलापन, प्रवाहमयता, प्रेरण एवं संयमता की योग्यता भी पाई जाती है।"

स्टेन के अनुसार, "सृजनात्मकता वह कार्य है जिसका परिणाम नवीन हो और किसी समय, किसी समूह द्वारा उपयोगी एवं संतोषजनक रूप मे स्वीकार किया जाए।"

बैरन के अनुसार, "सृजनात्मक बालक पहले से विध्यमान वस्तुओं एवं तत्वों को संयुक्त कर नवीन रचना करता है।"

निष्कर्ष रूप से सृजनात्मकता से अभिप्राय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन दृष्टिकोण अपनाना है। इस प्रकार सृजनशील व्यक्ति सदा नये द्वाष्टिकोण, विचार और व्यवहार अपनाने के लिए सदा तत्पर रहता है जिससे वह समस्या के नवीन समाधान खोजने में सफल रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सृजनात्मकता वह योग्यता है, जो किसी व्यक्ति को किसी समस्या का विद्ववतापूर्ण समाधान खोजने के लिए नवीन ढंग से चिंतन करने तथा कार्य करने हेतु समर्थ बनाया है। अतः यह प्रचलित तरीकों से भिन्न नवीन चिन्तन तथा कार्य करने की योग्यता है।

सृजनात्मक की प्रकृति

1. **सर्वव्यापकता** – सृजनात्मकता सर्वव्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ सीमा तक सृजनात्मकता अवश्य होती है।
2. **नवीनता** – सृजनात्मकता में पूर्ण अथवा आंशिक रूप में नई पहचान की उत्पति मौजूद होती है।
3. **प्रक्रिया और फल** – सृजनात्मकता में प्रक्रिया तथा फल दोनों ही शामिल होते हैं।

4. **परीक्षण द्वारा पोषित** – सृजनात्मक योग्यताएँ प्राकृतिक देन हैं किन्तु उन्हें प्रशिक्षण अथवा शिक्षा द्वारा भी पोषित किया जा सकता है।
5. **अनुपम** – सृजनात्मकता एक अनोखी मानसिक प्रक्रिया है, जिसके साथ कई तरह की मानसिक योग्यताएं और व्यक्तित्व की विशेषताएं जुड़ी होती हैं।
6. **मौलिकता** – सृजनात्मकता का परिणाम मौलिक तथा लाभदायक फल देता है।
7. **प्रसन्नता तथा संतोष का स्रोत** – कोई भी नई सृजनात्मक आभिव्यक्ति सृजनकर्ता के लिए खुशी और संतोष पैदा करती है।
8. **लचीलापन** – चिंतन तथा व्यवहार में लचीलापन, सृजनशीलता की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सृजनशील व्यक्ति हमेशा नए दृष्टिकोण, व्यवहार और विचार अपनाने के लिए तैयार रहता है। अतः वह समस्या के नवीन हल ढूंढने में सफल रहता है।
9. **प्रतिक्रियाओं की बहुलता** – सृजनात्मक चिंतन में विभिन्न प्रतिक्रियाओं, चयन तथा क्रियाओं की दिशाओं की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।
10. **विस्तृत क्षेत्र –** सृजनात्मक व्याख्या का क्षेत्र विशाल होता है। कोई भी विचार अथवा अभिव्यक्ति जो सृजनकर्ता के लिए मौलिक होती है, वह सृजनात्मकता की उदाहरण है। इसमें मानव दक्षताओं के सभी पक्ष शामिल हैं, जैसे, कहानी, नाटक, कविता, गीत लिखना, चित्रकला, संगीत, नृत्य, मूर्तिकला के क्षेत्र में कार्य सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्ध, व्यापार, शिक्षण तथा अन्य व्यवसाय।
11. **पुनःव्याख्या** – किसी समस्या अथवा उसके अंश की पुनः व्याख्या सृजनात्मकता की विशेषता है। जे. सी. शा, एलन नेविल, हरबर्ट साईमन ने किसी समस्या के सृजनात्मक समाधान में निम्न को महत्त्वपूर्ण समझा हैः–
    i. चिंतन का विषय नवीन तथा मूल्यवान होना चाहिए।
    ii. चिंतन बहु–विधि होना चाहिए।
12. **सृजनात्मक व्यक्तित्व** – सृजनात्मक व्यक्तित्व में सबसे महत्त्वपूर्ण गुण मौलिक चिंतन, परिणाम पर पहुंचने की स्वतन्त्रता, जिज्ञासा, स्वायत्तता, हास्य, आत्म विश्वास को समझने तथा संगठन बनाने की योग्यता वाले गुण होते हैं।
13. **असामान्य तथा प्रासंगिक चिंतन की अनुरूपता** – सृजनात्मक बालक तर्क, चिंतन, कल्पना के द्वारा प्रासंगिक मगर असामान्य चिंतन से समझौता करते हैं व चुनौती को स्वीकार करते हैं और इस चुनौती का सृजनात्मक उत्तर देते हैं।

निष्कर्ष : सृजनात्मकता एक मानासिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने वातावरण को इस प्रकार बदल देना चाहता है कि उसमें वह नए विचार, नमूने अथवा सम्बन्ध उत्पन्न कर सके। इस प्रकार सृजनात्मकता में नवीनता, उपयुक्तता, रूपांतरण और सर्वेक्षण के तत्व शामिल हैं।

सृजनात्मक चिंतन की अवस्थाएँ (Stage of creative thinking)

परिस्थिति 1 – प्रयागी, कक्षा–3 की छात्रा है। एक दिन जब उसकी शिक्षिका ने कक्षा में उससे 19 का पहाड़ा लिखने के लिए कहा तो वह उन्नीस छके (19 x 6 = 114) तक तो पहाड़ा सही–सही लिखी लेकिन उसके बाद उन्नीस सत्त`(19 x 7 =?) क्या होगा भूल गई और सोचने लगी कि इसके बाद क्या लिखूं ? लेकिन काफी प्रयास करने के बाद भी जब वह आगे पहाड़ा नहीं लिख सकी, तो चुपचाप बैठ गई। फिर उसे अचानक से एक तरकीब सूझी कि यदि उन्नीस तीया सत्तावन (19 x 3 = 57) होता है और उन्नीस चौके छिहत्तर (19 x 4 = 76) होता है। यदि हम 57 में 19 को जोड़ते हैं तो 76 प्राप्त होता है इसी प्रकार उन्नीस चौके छिहत्तर (19 x 4 = 76) होता है और उन्नीस पंचे पंचानवे (19 x 5 = 95) होता है यदि हम 76 में 19 को जोड़ते हैं तो हमे 95 प्राप्त होता है। यदि हम 114 में 19 जोड़ देंगे तो हमें उन्नीस सते (19 x 7 = ?) अवश्य ही प्राप्त हो सकता है। इसके बाद प्रयागी ने ऐसा ही किया और प्रत्येक संख्या में 19 जोड़कर संख्या लिखते हुए उसने अपने पहाड़ा को पूरा कर लिया।

19	19		19
38	38		38
57	57		57
76	76	57 +19=76	76
95	95	76+19=95	95
114	114	114+19=133	114
?	?		133
			152
			171
			190

समस्या समाधान से पूर्व, समस्या समाधान के दौरान तथा समस्या समाधान के बाद प्रयागी द्वारा लिखा गया पहाड़ा का स्वरूप ऊपर में दिया गया है।

परिस्थिति 2 – रवि 10 वर्ष का एक बालक है। एक दिन जब उसका सहपाठी क्रिकेट खेल रहा था, तो उसका मन भी क्रिकेट खेलने का हुआ, लेकिन उसके पास क्रिकेट का बल्ला नहीं था और उसका साथी खिलाड़ी उसे बल्ला देने के लिए तैयार नहीं हुआ, जिसके कारण वह उस दिन क्रिकेट नहीं खेल सका। घर पहुँचने के बाद जब राज ने अपने पिता को क्रिकेट खेलने के लिए बल्ला खरीदने को कहा तो उसके पिताजी उसे प्यार से समझाते हुए बोले कि उनके पास इतने रूपये नहीं है कि वह बल्ला खरीद सके। पिता के समझाने के बाद भी रवि का मन क्रिकेट खेलने के लिए बेचैन था। बल्ला नहीं मिलने पर वह पहले तो थोड़ा निराश हुआ, फिर अपने छोटे भाई के साथ खेलने लगा। तभी अचानक उसकी नजर पास रखे लकड़ी के पटरे (तख्ती) पर पड़ी। लकड़ी का पटरा देखते ही उसे

एक तरकीब सूझी। वह अपने घर से लोहे का गड़ांसा (दबिया) निकाला और उस लकड़ी को काटकर बैट का शक्ल दे डाला और अगले दिन उसे लेकर अपने अन्य साथी के साथ क्रिकेट खेलने चला गया।

अंकित परिस्थितियों के आलोक में नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश करते हैं–

प्रश्न 1 :– परिस्थिति 1 में प्रयागी एवं परिस्थति 2 में रवि ने अपनी–अपनी समस्याओं के समाधान के लिए सर्वप्रथम क्या प्रयास किया?

प्रश्न 2 :– परिस्थिति 1 में प्रयागी का पहाड़ा नहीं लिख पाने और परिस्थिति 2 में रवि को बल्ला नहीं मिलने अर्थात्, दोनों परिस्थितियों में समस्या का समाधान नहीं होने पर प्रयागी एवं रवि ने क्या किया?

प्रश्न 3 :– परिस्थिति 1 में प्रयागी जब चुपचाप बैठी थी तथा परिस्थिति 2 में जब रवि पहले उदास हुआ और फिर अपने भाई के साथ खेलने लगा तो उसे अचानक क्या अनुभव हुआ?

प्रश्न 4 :– प्रयागी तथा रवि के द्वारा अंतिम रूप से अपनी समस्या के समाधान तक पहुँचने के लिए क्या किया गया?

आप उपर्युक्त परिस्थिति के आलोक में प्रश्नों का उत्तर ढूंढने के क्रम में पाएंगे कि सर्वप्रथम प्रयागी तथा रवि ने समस्या सामने आने पर उसे अपने–अपने ढंग से हल करने का प्रयास किया। इस क्रम में प्रयागी ने जहाँ पहाड़ा को बार–बार दुहराया तो वहीं रवि अपने पापा से बल्ला खरीदने के लिए बोला। लेकिन इसके बाद भी उसके समस्या का समाधान नहीं हो पाया।

प्रयागी तथा रवि का अपनी समस्या के समाधान के लिए किये गए इस प्रारंभिक प्रयास को प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक गिलफोर्ड ने आयोजन की अवस्था (stage of preparation) कहा है। आप ऊपर की दोनों परिस्थितियों का अवलोकन करने पर यह भी पाएंगे कि जब पहले प्रयास में प्रयागी तथा रवि अपने–अपने समस्या का समाधान नहीं कर पाये हैं तो प्रारंभ में जहाँ प्रयागी चुपचाप बैठ जाती है वहीं रवि पहले उदास हो जाता है और फिर अपने छोटे भाई के साथ खेलने लग जाता है। प्रयागी तथा रवि के उदास एवं निष्क्रिय होकर किसी अन्य खेलों या कार्य में लगने की क्रिया को गिलफोर्ड ने उद्भवन की अवस्था (stage of incubation) कहा है। उद्भवन की अवस्था में प्राणी समस्या का समाधान नहीं मिलने पर या तो चुपचाप निष्क्रिय होकर बैठ जाता है या फिर किसी दूसरे कार्यों में मगन हो जाता है।

आपने दोनों परिस्थितियों में यह भी देखा कि जब प्रयागी चुपचाप बैठी थी तथा रवि अपने छोटे भाई के साथ खेलने में मगन था, तभी उन दोनों को अपनी–अपनी समस्या का संभावित उत्तर दिखाई दिया। परिस्थति 1 में जहाँ प्रयागी को यह अनुभव हुआ कि 114 में 19 जोड़ने पर उन्नीस सते (19 x 7=?) के अंक को प्राप्त कर सकती है, वहीं परिस्थिति 2 में रवि ने यह अनुभव किया कि लकड़ी के पटरे को काटकर बल्ला बनाया जा सकता है। प्रयागी तथा रवि का अपनी–अपनी समस्या के संभावित परिणाम प्राप्त करने की प्रक्रिया को

गिलफोर्ड ने प्रदीप्ति या प्रबोधन की अवस्था (stage of illumination) तथा गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिको ने अहा अनुभवन (Aha experience) कहा है। अतः स्पष्ट है कि प्राणी का अपने समस्या के संभावित समाधान ढूढने की प्रक्रिया जो अचानक संपन्न होती है, प्रदीप्ति या प्रबोधन (illumination) है।

आप इन दोनों परिस्थितियों का अवलोकन करने के पश्चात यह अवश्य ही समझ चुके होंगे कि जब प्रयागी तथा रवि को अपनी–अपनी समस्या का संभावित परिणाम दिखाई देता है, तो वे तुरंत सक्रिय होकर अपने विचारों अर्थात् समस्याओं के संभावित परिणाम को मूर्त रूप देकर समस्या का समाधान कर लेते हैं। परिस्थिति 1 में जहाँ प्रयागी 114 में 19 जोड़कर 133 प्राप्त की, वहीं रवि लकड़ी के पटड़े को काटकर बल्ला बनाने में सफल हुआ। अपनी समस्या के संभावित परिणाम को मूर्त रूप देने की प्रक्रिया को गिलफोर्ड ने सृजनात्मक चिंतन की अतिम अवस्था प्रमाणीकरण (stage of verification) कहा है। कहने का तात्पर्य यह कि समस्या के संभावित समाधान को मूर्त रूप देने की प्रक्रिया ही प्रमाणीकरण है।

इस प्रकार आपने देखा कि सृजनात्मक चिंतन की संपूर्ण प्रक्रिया चार चरणों में संपन्न होती है जिसका संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित हैः–

सृजनात्मक चिंतन में सम्मिलित चरण

1. **आयोजन (Preparation) -** यह सृजनात्मक चिंतन की पहली अवस्था है, जिसमें व्यक्ति समस्या से सम्बंधित विभिन्न पहलुओं का प्रत्यक्षण कर समस्या समाधान के लिए चिंतन, तर्क–वितर्क तथा प्रयास एवं त्रुटि विधि का सहारा लेता है, लेकिन इसके बावजूद वह समस्या के समाधान तक नहीं पहुँच पाता है।
2. **उद्भवन (Incubation) -** यह सृजनात्मक चिंतन की दूसरी अवस्था है। जब व्यक्ति काफी प्रयास करने के बावजूद अपनी समस्या का समाधान करने में असफल हो जाता है, तो वह या तो शांत एवं निष्क्रिय होकर बैठ जाता है या फिर किसी अन्य कार्यों में तल्लीन हो जाता है। यही अवस्था उद्भवन कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह कि समस्या का समाधान नहीं मिलने पर प्राणी का निष्क्रिय होकर बैठना या किसी दूसरे कार्यों में लग जाने की अवस्था ही उद्भवन की अवस्था कहलाता है।
3. **प्रदीप्ति या प्रबोधन (Illumination) -** यह रचनात्मक चिंतन की तीसरी अवस्था है जिसमें प्राणी को अचानक से अपनी समस्या का संभावित परिणाम दिखाई देता है अर्थात प्राणी या व्यक्ति द्वारा अपनी समस्या के संभावित परिणाम को प्राप्त करने की प्रक्रिया ही प्रदीप्ति या प्रबोधन कहलाता है। प्राणी में यह क्रिया अचानक से संपन्न या घटित होती है। गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक ने प्रबोधन या प्रदीप्ति को 'अहा–अनुभव' (aha experience) कहा है।
4. **प्रमाणीकरण एवं संशोधन (Verification and Revision) -** यह सृजनात्मक चिंतन की अंतिम अवस्था है जिसमें प्राणी अपनी समस्या के संभावित समाधान को मूर्त रूप देता है। अगर प्राणी इस संभावित समाधान को मूर्त रूप देकर अपनी समस्या का समाधान करने में सफल हो जाता है तो यह स्थायी हो जाता है। इसे ही प्रमाणीकरण कहा जाता है। कुछ परिस्थितियों मे जब प्राणी अपने संभावित समाधान को मूर्त रूप देने के बाद भी समस्या के वास्तविक हल तक नहीं पहुँच पाता है तो ऐसी स्थिति में वह पुनः

अपने व्यवहार में परिवर्तन लाकर समस्या–समाधान के लिए प्रयास करने लगता है। प्राणी द्वारा अपने व्यवहार में परिवर्तन लाकर पुनः समस्या समाधान के लिए प्रयास करना ही संशोधन (revision) कहलाता है।

सृजनात्मकता की उपर्युक्त अवस्थाएं परिवर्तनशील हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सृजनात्मक चिन्तक इन्हीं अवस्थाओं का अनुसरण करे। सृजनात्मक चिंतन के क्रम में चिन्तक को उद्‌भवन की अवस्था से पहले भी समस्या का समाधान प्राप्त हो सकता है। साथ–ही यह भी हो सकता है कि इन अवस्थाओं का अनुसरण करने के बाद भी समस्या का समाधान न हो और चिन्तक को इन्ही अवस्थाओं का कई बार अनुसरण करना पड़े। लेकिन इसके बावजूद यह चारों अवस्था सृजनात्मक चिंतन के वैज्ञानिक स्वरुप का विधिवत प्रतिनिधित्व करते हैं।

सृजनात्मकता के तत्व (Elements of creativity)

सृजनात्मकता को नवीनता, मैलिकता, रचनात्मकता इत्यादि कई नामों से भी जाना जाता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के द्वारा सृजनात्मक चिंतन के कई तत्वों का वर्णन किया गया है, जिनमें चार तत्व मुख्य हैं:–

1. **प्रवाह** (Fluency) - प्रवाह से तात्पर्य विचारों की खुली अभिव्यक्ति से हैं, जो व्यक्ति अपने विचारों को बिना किसी रूकावट के जितना ही अधिक समय तक व्यक्त करने में सफल होते हैं, उन्हें उतना ही अधिक धारा–प्रवाही माना जाता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रवाह से तात्पर्य शब्द, सहाचर्य स्थापित करने तथा शब्दों की अभिव्यक्ति से है। उदाहरण के लिए नेता के द्वारा किसी मुद्दे पर घंटों भाषण देना या वकालतखाने (कचहरी) में वकील के द्वारा अपने मुवक्किल के बचाव में विरोधी वकील से घंटों बहस करना प्रवाह का उत्तम उदाहरण हैं।

2. **लचीलापन** (Flexibility) - लचीलापन से तात्पर्य समस्या के समाधान के लिए विभिन्न तरीकों एवं ढंगों के अपनाये जाने से है। इससे यह पता चलता है कि मनुष्य किसी समस्या का समाधान कितने अलग–अलग तरीके से कर सकता है। वह किसी एक चित्र या कहानी की व्याख्या कितने अलग–अलग ढंग से कर सकता है। जैसे – यदि किसी बच्चे से कागज के उपयोग के बारे में पूछा जाता है और उस बच्चे के द्वारा यह कहा जाता है कि कागज पर हम लिखने का काम करते हैं, कागज से हम खेलने के लिए नाव, हवाई जहाज, पतंग इत्यादि बना सकते हैं। साथ ही हम कागज का फूल एवं गुलदस्ता बनाकर अपने घर को सजा सकते हैं कागज के उपयोग के प्रति बच्चों का यह विभिन्न दृष्टिकोण उसके चिंतन में लचीलापन को प्रदर्शित करता है।

3. **मौलिकता** (Originality) - मौलिकता से तात्पर्य, समस्या के समाधान के लिए व्यक्ति द्वारा दी गई अनुक्रिया के अनूठापन से है। जब व्यक्ति समस्या समाधान के क्रम में बिल्कुल ही नया, अनोखा एवं लाजवाब अनुक्रिया प्रदर्शित करता है तो व्यक्ति के द्वारा प्रदर्शित किये जानेवाले इसी अनूढे व्यवहार को मौलिकता कहा जाता है। अपने चिंतन को मौलिक बनाने के लिए व्यक्ति नवीन संबंधों का प्रत्यक्षण करता है, नए विचारों को पुराने विचारों के साथ जोड़ता है, चीजों को भिन्न परिप्रेक्ष्य में

देखता है ताकि वह असाधारण विचारों एवं कलाओं को उत्पन्न कर सके। जैसे – सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बसु द्वारा इस बात का खोज किया जाना कि पौधे भी सजीव होते हैं मौलिक चिंतन का उदाहरण है। हालाँकि, पहले भी लोग पौधे को देखते थे परन्तु पौधे सजीव हैं, इसकी कल्पना किसी ने नहीं की थी। परन्तु जगदीश चन्द्र बसु ने न केवल यह कहा कि पौधे सजीव होते हैं, बल्कि अपने प्रयोगों द्वारा उसे साबित भी किया।

4. **विस्तारण** (Elaboration) - विस्तारण से तात्पर्य अपने विचारों को बढ़ा–चढ़ाकर व्यक्त करने की क्षमता से है। विस्तारण को दो भागों में बांटा जा सकता है – शाब्दिक विस्तारण तथा आकृतिक विस्तारण। शाब्दिक विस्तारण में किसी दी गई संक्षिप्त घटना, क्रिया, कार्य, परिस्थिति इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन करने से है, जबकि आकृतिक विस्तारण में किसी दी गई रेखा या अपूर्ण चित्र में कुछ जोड़कर उसे पूर्ण एवं सार्थक चित्र बनाया जाता है। जैसे – किसी सेमिनार में मंच संचालक यह उद्घोषणा करने के बजाय कि अभी आपके सामने श्री आनंद कुमार प्रस्तुत विषय पर अपना विचार व्यक्त करने आ रहे हैं, यह उद्घोषणा करता है कि अभी आपके सामने अभियांत्रिकी (इंजीनियरिंग) की तैयारी करनेवाले छात्रों के दिलों की धड़कन, बिहार के गौरव, सुप्रसिद्ध गणितज्ञ श्री आनंद कुमार, प्रस्तुत विषय पर अपना महान विचार व्यक्त करने जा रहे हैं तो यह विस्तारण का एक उत्तम उदाहरण होगा।

सृजनातकता की पहचान (Identification of creativity)

सृजनात्मकता की पहचान करना आप शिक्षक के लिए अत्यंत ही आवश्यक है। आप अपने विद्यालय अथवा कक्षा–कक्ष में सृजनात्मक विद्यार्थियों का पहचान उसके निम्नांकित गुणों के आधार पर कर सकते हैं–

- सृजनशील विद्यार्थियों के विचार एवं अभिव्यक्ति में मौलिकता पाई जाती है अर्थात् ऐसे विद्यार्थियों के विचार एवं अभिव्यक्ति में नवीनता एवं अनोखापन पाया जाता है।
- सृजनशील विद्यार्थी जिज्ञासु, जागरूक, उत्साही, दूर दृष्टि वाले तथा विनोदप्रिय होते हैं।
- ऐसे विद्यार्थियों में स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता होती है।
- ऐसे विद्यार्थियों में विचारों की अभिव्यक्ति में कल्पनाशीलता एवं खुलापन पाया जाता है।
- सृजनशील विद्यार्थियों में आत्मविश्वास की भावना काफी प्रबल होती है, साथ–ही वे अपने उत्तरदायित्व के प्रति काफी सजग रहते हैं।
- सृजनशील विद्यार्थी दूसरों के विचारों का आदर करता है। साथ–ही अपने विरोधियों द्वारा दिये गए सुझावों का कभी बुरा नहीं मानता है।
- सृजनशील विद्यार्थी के विचारों मे काफी लचीलापन पाया जाता है।

बुद्धि तथा सृजनात्मकता के बीच संबंध एवं अंतर

बुद्धि तथा सृजनात्मकता दोनों ही मानसिक योग्यताएं हैं। इसलिए इन दोनों में परस्पर संबंध का होना स्वाभाविक है। परंतु इस अंतर्निहित संबंध के बावजूद इन दोनों विशेषताओं को पूरी तरह से एक मानना उचित नहीं होगा। निसंदेह देखा गया है कि प्रायः बुद्धिमान व्यक्तियों में सृजनात्मकता की मात्रा अधिक होती है। गिलफोर्ड ने अपने त्रिविमीय बुद्धि की संरचना में गैर–परंपरागत या बहु–विध चिंतन (डायवर्जेंट थिंकिंग) नामक संक्रिया भी सृजनात्मकता की ओर इशारा करती है। इस दृष्टि से सृजनात्मकता को बुद्धि का एक अंग माना जा सकता है। निःसंदेह बुद्धि तथा सृजनात्मकता में एक घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। बुद्धिमान व्यक्ति प्रायः अधिक सृजनशील होते हैं तथा सृजनशील व्यक्तियों का बुद्धिमान होना भी एक सर्वमान्य तथ्य है। परंतु कभी–कभी बुद्धि में श्रेष्ठ होते हुए भी व्यक्ति में सृजनात्मकता कम होती है। इसका कारण यही है कि यह दोनों चर एक दूसरे पर आंशिक रूप से आश्रित तो होते हैं परंतु एक दूसरे के पर्याय नहीं होते। वस्तुतः मानव चिंतन के जिन दो प्रकारों की चर्चा की गई है (परंपरागत और गैर–परंपरागत) उसमे परंपरागत चिंतन बुद्धि का मुख्य आधार होता है, जबकि गैर–परंपरागत चिंतन सृजनात्मकता का आधार होता है। इसलिए गैर–परंपरागत चिंतन की कम योग्यता वाला व्यक्ति भी यदि परंपरागत चिंतन योग्यता में भरपूर है, तो वह उच्च बुद्धि परंतु कम सृजनात्मक हो सकता है। इस प्रकार सृजनात्मक योग्यता होने पर भी व्यक्ति उच्च बुद्धि वाला हो सकता है। वस्तुतः बुद्धि में सृजनात्मक व्यवहार की गति व शुद्धता पर जोर दिया जाता है, जबकि सृजनात्मकता में नवीनता मौलिकता व विविधता पर जोर दिया जाता है। स्पष्ट है की बुद्धि तथा सृजनात्मकता में परस्पर घनिष्ठ संबंध होते हुए भी यह दोनों योग्यताएं एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता रखती है।

सृजनात्मकता विकास हेतु विविध तरीके

प्रारंभ में ऐसा विश्वास किया जाता था कि सृजनात्मकता एक जन्मजात गुण है परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि उचित विधियों एवं प्रविधियों के उपयोग तथा उपयुक्त वातावरण को उत्पन्न करके सृजनात्मक शक्तियों को विकसित किया जा सकता है। सृजनात्मकता को विकसित करने के कुछ प्रमुख तरीके निम्नवत हैं–

1. **विचारों की स्वतंत्रता** (Freedom of thoughts) - सृजनात्मकता का विकास करने के लिए व्यक्ति को किसी भी समस्या अथवा विषय पर अपने मन में आनेवाले विचारों को बेझिझक होकर दूसरों के सामने रखना चाहिए तथा उसपर तार्किक ढंग से विचार विमर्श करना चाहिए।

2. **समस्या समाधान का अनूठा तरीका** (Unique techniques of problem solving) - किसी भी समस्या का समाधान करते समय समस्या के विभिन्न पहलुओं के संबंध में तर्क–वितर्क कर उसके समाधान के पारंपरिक तरीकों की जगह ऐसे तरीकों के विकास का प्रयास करना चाहिए जो अपने आप में नवीन तथा अनोखा हो।

3. **ज्ञानात्मक योग्यताओं में विकास** (Development in cognitive abilities) - ज्ञान एवं सृजनात्मकता में अन्योन्याश्रय संबंध है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक ज्ञानवान होता है, वह किसी भी समस्या के विभिन्न पहलुओं का प्रत्यक्षण उतनी ही आसानी से करने में सफल होता है। साथ–ही उसके चिंतन का क्षेत्र काफी व्यापक होता है, जिससे वह किसी भी समस्या का समाधान औरों से अलग, नवीन एवं अनोखे रूप में करने का प्रयास करता है। अतः व्यक्ति को सृजनात्मक योग्यता में विकास करने के लिए उसे अपने ज्ञानात्मक योग्यताओं में विकास के लिए भी सदैव तत्पर रहना चाहिए।

4. **चिंतन में लचीलापन** (Flexibility in thinking) - चिंतन में लचीलापन सृजनात्मकता का एक आवश्यक तत्व है। समस्या समाधान के क्रम में यदि समस्या समाधान का कोई एक तरीका असफल हो जाय तो, इससे निराश होने के बजाय, समस्या के प्रति नवीन दृष्टिकोण का विकास एवं उसके समाधान का प्रयास एक नये रूपों में करना चाहिए।

5. **आत्मविश्वास** (Self Confidence) - आत्मविश्वास किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए पहली आवश्यक शर्त है। जिस व्यक्ति में आत्मविश्वास नहीं है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। अतः व्यक्ति को अपने सामने आनेवाली समस्याओं का समाधान काफी आत्मविश्वास पूर्वक करना चाहिए। यदि समस्या समाधान के क्रम में वह असफल हो जाता है, तो उसे अपने समस्या के विभिन्न पहलुओं के संदर्भ में चिंतन एवं तर्क–वितर्क करना चाहिए। साथ–ही आवश्यकता पड़ने पर समस्या के संदर्भ में अन्य व्यक्तियों से आत्मविश्वास के साथ विचार–विमर्श करना चाहिए।

सृजनात्मकता को प्रभावित करनेवाले कारक (Factors Affecting Creativity)

1. **आदत (Habit) -** आदत सृजानात्मकता को प्रभावित करनेवाला एक प्रमुख कारक है। हमारे पूर्व में सीखे गए दृष्टिकोण एवं व्यवहार का प्रभाव हमारे चिंतनशैली पर पड़ता है। यदि हमारी सोच संकुचित होती है तो वह हमारे चिंतन को आगे नहीं बढ़ने देती है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति का सोच व्यापक होता है वह समस्या का व्यापक प्रत्यक्षण करते हैं तथा समस्या समाधान के नए–नए तरीकों को ढूंढने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत ही आसानी से अपने वातावरण के साथ समायोजन स्थापित कर समस्या का समाधान करने में सफलता प्राप्त करते हैं।

2. **अभिप्रेरणा (Motivation) -** अभिप्रेरणा तथा सृजनात्मकता में धनात्मक सह–संबन्ध पाया जाता है। जो व्यक्ति आंतरिक एवं बाह्य रूप में जितना ही अधिक अभिप्रेरित होते हैं, वे किसी भी समस्या का समाधान उतना ही आत्मविश्वास पूर्वक करते हैं। इसके विपरीत, जो व्यक्ति आंतरिक एवं बाह्य रूप में जितने ही कम अभिप्रेरित होते हैं, उनके सफलता की संभावना उतनी ही कम होती है। अभिप्रेरित व्यक्ति किसी भी समस्या के समाधान का नवीन हल ढूढंने का प्रयास करते हैं। वहीं दूसरी ओर वे प्रत्येक सफलता पर पुरस्कार प्राप्त होने के फलस्वरूप और भी अधिक प्रेरित होकर नई–नई अवधारणाओं, सिद्धांतो, विधियों, प्रविधियों, तकनीकों, साहित्यिक कृतियों इत्यादि का निर्माण करने में सफल होते हैं।

3. **चिंतन शैली (Styles of Thinking) -** सृजनात्मकता को व्यक्ति का चिंतन शैली भी काफी प्रभावित करता है। चिंतन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं (i) अभिसारी चिंतन (Convergent thinking) तथा (ii) अपसारी चिंतन (Divergent thinking)

   i. **अभिसारी चिंतन (Convergent thinking) -** अभिसारी चिंतन एक पारंपरिक चिंतन है जिसके द्वारा किसी भी समस्या का समाधान एक उचित एवं निश्चित तरीके से किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति से उसका नाम पूछा जाता है और वह व्यक्ति उत्तर के रूप में यह कहता है कि उसका नाम किशन आनंद है, तो यह अभिसारी चिंतन का उदाहरण होगा। इसका कारण यह है कि यदि किसी व्यक्ति से उसका नाम पूछा जाता है, तो इसके उत्तर में वह केवल अपना नाम ही बताएगा और कुछ नहीं। साथ–ही वह अपने इस उत्तर में किसी भी तरह का कोई परिवर्तन भी नहीं कर सकता है।

   ii. **अपसारी चिंतन (Divergent thinking) -** चिंतन के इस शैली में व्यक्ति किसी भी समस्या अथवा विषय का प्रत्यक्षण काफी व्यापक रूप में करता है। साथ–ही इस प्रकार के चिंतन में व्यक्ति अपने गत अनुभव, कल्पना, साहचर्य इत्यादि का सहारा लेता है और समस्या या विषय के सभी पक्षों का विश्लेषण कर उसका समाधान नवीन एवं अपूर्व ढंग से करता है। इस प्रकार के चिंतन में नवीनता एवं मौलिकता की अभिव्यक्ति होती है तथा व्यक्ति नवीन अवधारणाओं, तथ्यों, सिद्धांतो इत्यादि का निर्माण करता है। जैसे – यदि रोजी किसी व्यक्ति से उसका नाम पूछने के बजाय यह कहती है कि वह व्यक्ति रोजी को अपना परिचय दे, तो उस व्यक्ति द्वारा दिया जाने वाला परिचय अपसारी चिंतन का उदाहरण होगा, क्योंकि वह व्यक्ति अपने परिचय में अपना नाम, अपने माता–पिता का नाम, घर का पता बोल सकता है अथवा अपने माता–पिता का नाम एवं घर का पता बताने के बजाय वह अपने परिचय में अपने नाम के साथ अपनी शैक्षणिक एवं व्यवसायिक योग्यता, अपना गुण, अवगुण, अपने कार्यालय का पता इत्यादि बता सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि व्यक्ति अपना परिचय किस रूप में देगा यह पहले से निश्चित नहीं है, बल्कि व्यक्ति द्वारा दिया जानेवाला परिचय उसके विवेक पर निर्भर करता है कि वह अपना परिचय किस रूप में देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति के चिंतन का स्वरूप अपसारी होता है, वह सृजनात्मक होता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति के चिंतन का स्वरूप अभिसारी होता है, वह सृजनात्मक नहीं होता है।

विचारणीय बिंदु

हलांकि सृजनात्मकता की शुरूआत अपसारी चिंतन से होती है, जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति अपने सामने उपस्थित समस्याओं का समाधान कई रूपों या विधियों से करने का प्रयास करते हैं परंतु इस चिंतन का स्वरूप समस्या–समाधान के अंतिम अवस्था में आकर अभिसारी हो जाता है, जब व्यक्ति समस्या के समाधान के अनेक संभावित तरीकों में से किसी एक उपयुक्त तरीके का चयन कर समस्या का समाधान करते हैं।

4. **बुद्धि (Intelligence) -** बुद्धि भी सृजनशीलता को काफी हद तक प्रभावित करता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि कम बुद्धिमान लोगों में सृजनशीलता नहीं के बराबर पाई जाती है। लेकिन, इसका कदापि यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि सभी अधिक बुद्धि वाले व्यक्ति सृजनशील होते ही हैं। वास्तविकता यह है कि 100–120 बुद्धिलब्धि तक ही सृजनात्मकता तथा बुद्धिलब्धि में धनात्मक सह–सम्बन्ध पाया जाता है। जब बुद्धि 100 से कम या 120 से अधिक होने लगती है, तो व्यक्ति में सृजनशीलता नहीं के लगभग देखी जाती है। मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि एवं सृजनात्मकता के संबंधों की व्याख्या के लिए एक विशेष मॉडल तैयार किया है, जिसे देहली मॉडल कहा जाता है। इस मॉडल के अनुसार किसी भी सृजनात्मक कार्य के लिए बुद्धि का न्यूनतम स्तर या देहली निश्चित नहीं होता है बल्कि अलग–अलग सृजनात्मक कार्यों के लिए बुद्धि का न्यूनतम स्तर भिन्न–भिन्न होता है।

5. **आत्म धारणा (Self Concept) -** जो व्यक्ति अपने–आप में यह धारणा बनाते हैं कि वह कुछ नया कर सकते हैं, किंतु इस भय से कि असफल होने पर लोग क्या कहेंगे? इस प्रकार के विचार से ग्रस्त हो जाते हैं उनकी आत्म धारणा दुर्बल हो जाती है। परिणामस्वरूप उनकी सृजनात्मकता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति दूसरों का परवाह किये बिना अपने विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने का प्रयास करते हैं, वे नई–नई कृतियों, विचारों, सिद्धांतो इत्यादि के निर्माण में सफलता प्राप्त करते हैं।

6. **परिवार (Family) -** सृजनात्मकता को परिवार भी प्रभावित करता है। जिस परिवार में बच्चों के विचारों को महत्व दिया जाता है, साथ–ही उसे किसी भी समस्या के प्रति विचार व्यक्त करने एवं उसके पक्ष में तर्क प्रस्तुत करने की छूट दी जाती है, उस परिवार के बच्चे का आगे चलकर सृजनात्मक होने की संभावना अधिक रहती है। इसके विपरीत जिस परिवार के बच्चों को ऐसी स्वतंत्रता नहीं दी जाती है, उस परिवार के बच्चों के सृजनात्मक होने की संभावना उतनी ही कम हो जाती है।

7. **सामाजिक–आर्थिक स्थिति (Socio-economic Status) -** सामाजिक एवं आर्थिक रूप से संपन्न परिवार के बच्चों को प्रारंभ से ही अनेक सुख सुविधाएं मिलने के कारण बच्चों के सोचने एवं व्यवहार करने का दृष्टिकोण भी काफी व्यापक होता है, जिसके परिणामस्वरूप उसके सृजनात्मक क्षमता की वृद्धि काफी सहज रूप में ही होने लगती है। इससे विपरीत निम्न समाजिक–आर्थिक स्थिति वाले परिवार के बच्चों को ऐसी सुविधाएं नहीं मिल पाती हैं। ऐसे बच्चों का जीवन प्रायः रोटी, कपड़ा और मकान की पूर्ति में ही बीत जाती है, जिससे उसमें सृजनात्मक चिंतन की अवधारणा उत्पन्न ही नहीं हो पाती है।

सृजनात्मकता का मापन

यद्यपि सृजनात्मकता वास्तव में एक मानसिक योग्यता ही है, फिर भी अन्य मानसिक योग्यताओं के मापन की तुलना में सृजनात्मकता का मापन एक जटिल कार्य है। सृजनात्मकता के अंतर्गत अनूठे, अस्पष्ट विस्तृत तथा जटिल कार्यों को करने की अनेक

विभिन्न क्षमताएं समाविष्ट रहती हैं। इसलिए सृजनात्मकता का मापन करना मुश्किल कार्य होता है। सृजनात्मकता के मापन का प्रमुख प्रयास गिलफोर्ड ने किया था। उसने अपसारी चिंतन को विश्वसनीयता के साथ मापने का प्रयत्न किया। हालांकि वर्तमान समय में सृजनात्मकता के मापन के लिए अनेक परीक्षणों का निर्माण हो चुका है, परंतु सृजनात्मकता परीक्षणों की अपनी व्यवहारिक उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकी है। प्रशिक्षुओं की जानकारी के लिए सृजनात्मकता मापन के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले कुछ प्रमुख परीक्षणों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है:–

1. गिल्फोर्ड व मेरीफील्ड का कॉलेज छात्रों के लिए सृजनात्मक परीक्षण

गिल्फोर्ड तथा मेरीफील्ड के अनुसार सृजनात्मक चिंतन में गैर–परंपरागत उत्पादन, रूपांतरण तथा पुनः परिभाषीकरण की योग्यताएं निहित होती हैं। उन्होंने कालेज छात्रों की रचनात्मकता मापन करने के लिए एक परीक्षण का निर्माण किया जिसमें निम्न छः घटको या कारकों को सम्मिलित किया।

i. समस्या के प्रति संवेदनशीलता
ii. विविधता
iii. प्रवाह
iv. मौलिकता
v. विस्तार
vi. पुनः परिभाषीकरण

2. टोरेन्स के सृजनात्मक चिंतन के परीक्षण

ई. पॉल टोरेन्स के द्वारा तैयार की गई सृजनात्मक चिंतन परीक्षण श्रृंखला में दो परीक्षण है। प्रथम शाब्दिक परीक्षण, जिसे शब्दों के साथ सृजनात्मक चिंतन कहते हैं। दूसरा आकृति परीक्षण, जिसे चित्रों के साथ सृजनात्मक चिंतन कहते हैं। इस परीक्षण श्रृंखला में निम्न चार प्रकार के कार्य सम्मिलित किए गए हैं:–

- किसी चित्र के संबंध में अधिकाधिक प्रश्न करना।
- किसी खिलौने में सुधार के लिए परिवर्तन सुझाना।
- किसी सामान्य वस्तु के अधिकाधिक प्रयोग बताना।
- किसी दी गई वक्रीय रेखा के चारों ओर कोई चित्र बनाना तथा चित्र का शीर्षक देना।

यह परीक्षण प्रवाह, विविधता, मौलिकता तथा विस्तार नामक चार घटकों या कारकों पर अलग–अलग प्राप्तांक प्रदान करता है।

3. पासी के सृजनात्मक परीक्षण

बी.के.पासी के द्वारा 1972 में स्कूल वालों को की सृजनात्मकता का मापन करने के लिए निर्मित इस सृजनात्मकता परीक्षण में निम्नलिखित छः उप परीक्षण सम्मिलित है–

i. समस्या जांच परीक्षण

ii. असामान्य उपयोग परीक्षण

iii. परिणाम परीक्षण

iv. रचनात्मक योग्यता परीक्षण

v. वर्ग पहेली परीक्षण

vi. ब्लॉक परीक्षण

इनमें से प्रथम तीन परीक्षण, शाब्दिक कार्य परीक्षण हैं। एक परीक्षण में अशाब्दिक उद्दीपन होते हुए भी शाब्दिक प्रतिक्रियाएं देनी होती है तथा अंतिम दो परीक्षणों की प्रकृति पूर्णतया अशाब्दिक हैं। समस्या जाँच परीक्षण में चार दैनिक उपयोग की वस्तुओं (जूते, पेन, कुर्सी व पोस्टकार्ड) के दोष तथा इनके प्रयोग में आने वाली समस्याएं बताने के लिए कहा जाता है। असामान्य प्रयोग परीक्षण में 2 वस्तुओं (कपड़े का टुकड़ा व बोतल) के अधिक–से–अधिक साधारण व मनोरंजक उपयोग बताने के लिए कहा जाता है। परिणाम परीक्षण के अंतर्गत चार असंभव घटनाओं (मानव के उड़ने, घरों के उड़ने, सभी के पागल होने व स्त्रियों के पुरुष हो जाने) के परिणामों को सोचने के लिए कहा जाता है। रचनात्मक योग्यता परीक्षण में किन्ही दिखाई दी गई वस्तुओं से संबंधित अधिकाधिक प्रश्न पूछने के लिए कहा जाता है। वर्ग परीक्षण में दिए गए पाँच त्रिभुजाकार व पाँच चतुर्भुजाकार प्लास्टिक के टुकड़ों को वर्ग के रूप में व्यवस्थित करना होता है। ब्लॉक परीक्षण में 19 घनों व 12 अर्ध–घनों को देकर अधिक–से–अधिक विभिन्न आकृतियाँ बनाने व उनके शीर्षक देने के लिए कहा जाता है। प्रथम चार परीक्षणों को व्यक्तिगत परीक्षण अथवा सामूहिक परीक्षण (30 प्रयोज्य तक के समूह में) दोनों ही ढंग से प्रशासित किया जा सकता है। पांचवें परीक्षण को व्यक्तिगत रूप से या छः प्रयोज्यो तक के समूहों में प्रशासित किया जा सकता है। अंतिम परीक्षण को केवल व्यक्तिगत ढंग से ही प्रशासित किया जा सकता है।

4. बाकर मेहंदी के सृजनात्मक चिंतन परीक्षण

बाकर मेहंदी के द्वारा सृजनात्मक चिंतन की इस परीक्षण श्रृंखला में दो परीक्षण 1 सृजनात्मक चिंतन का शाब्दिक परीक्षण तथा 2 सृजनात्मक चिंतन चित्रों द्वारा है। पहले परीक्षण जो शाब्दिक परीक्षण है, में निम्न चार कार्य संपादित किए जाते हैं–

i. यदि ऐसा हो जाए तो।

ii. वस्तुओं के नए–नए प्रयोग।

iii. नए संबंधों का पता लगाना।

iv. वस्तुओं को मनोरंजक बनाना।

'यदि ऐसा हो जाए तो' कार्य के अंतर्गत तीन असंभव बातों (मनुष्य उड़ने लगे, विद्यालय में पहिए लग जाएं तथा खाना खाने की आवश्यकता ना रहे) के सत्य हो जाने पर होने वाले परिणामों/परिवर्तनों को अधिक–से–अधिक संख्या में बताने के लिए कहा जाता है। 'वस्तुओं के नए–नए प्रयोग' कार्य के अंतर्गत 3 वस्तुओं (पत्थर का टुकड़ा, लकड़ी की छड़ी तथा पानी) के नए–नए विचित्र तथा रोचक प्रयोग लिखने होते हैं। 'नए संबंध पता लगाना' कार्य में शब्दों के 3 युग्म (पेड़ व मकान, कुर्सी व सीढ़ी तथा हवा व पानी) के शब्दों में परस्पर विभिन्न संबंधों को प्रस्तुत करना होता है। 'वस्तुओं को मनोरंजक बनाना' कार्य में

घोड़े के साधारण खिलौने को अधिक मनोरंजक बनाने के लिए उसमें अधिक–से–अधिक परिवर्तन बताने होते हैं। इन चारों कार्यों के लिए क्रमशः 12, 15, 15 तथा 6 मिनट का समय दिया जाता है। इस प्रकार से शाब्दिक परीक्षण में कुल 48 मिनट का समय वास्तविक परीक्षण हेतु प्रयोज्य को दिया जाता है। इस शाब्दिक परीक्षण के द्वारा सृजनात्मकता के तीन कारकों यथा प्रवाह, विविधता तथा मौलिकता का मापन होता है।

बाकर मेहंदी द्वारा निर्मित दूसरे परीक्षण जो सृजनात्मकता का एक अशाब्दिक परीक्षण है तथा वस्तुतः चौत्रिक सृजनात्मकता का मापन करता है, के अंतर्गत तीन कार्य सम्मिलित किए गए हैं। अशाब्दिक परीक्षण के 'चित्र बनाओ' नामक प्रथम कार्य में दो आकृतियां दी गई होती हैं। प्रत्येक आकृति को एक अंग मानकर ऐसा चित्र बनाना होता है, जिसे कोई अन्य न सोच सके तथा उस चित्र का शीर्षक भी लिखना होता है। 'चित्र पूर्ति व शीर्षक बताओ' नामक दूसरे कार्य में 10 अपूर्ण आकृतियां दी गई होती हैं एवं प्रत्येक आकृति को पूरा करके नवीन व रोचक चित्र बनाने होते हैं तथा चित्रों को शीर्षक देने होते हैं। 'त्रिभुजाकार व अंडाकार आकृतियां' नामक तीसरे कार्य के अंतर्गत 7 त्रिभुजाकार व 7 अंडाकार आकृतियां दी गई होती है एवं प्रत्येक आकृति को अंग मानकर नवीन व रोचक चित्र बनाने होते हैं तथा चित्रों के शीर्षक भी लिखने होते हैं। इन तीन कार्यों के लिए क्रमशः 10, 15 तथा 10 मिनट का समय निर्धारित है। इस प्रकार से अशाब्दिक परीक्षण में कुल 35 मिनट का समय प्रयोज्य को कार्य करने हेतु दिया जाता है। इस अशाब्दिक परीक्षण के द्वारा विस्तारण तथा मौलिकता नामक दो सृजनात्मक कारकों का मापन होता है।

सृजनात्मक विकास में अभिभावकों तथा शिक्षकों की भूमिका (Role of Parents/Guardians and Teachers in Development of Creativity)

बच्चों में सृजनात्मक विकास हेतु अभिभावकों एवं शिक्षकों की भूमिका निम्न रूपों में हो सकती हैः–

1. **स्वतंत्र विचारों की अभिव्यक्ति का अवसर -** सामान्यतः बच्चे बड़ों द्वारा किये गए प्रश्नों का उत्तर पारंपरिक ढंग से देते हैं। ऐसे में अभिभावकों एवं शिक्षकों को चाहिए कि वे बच्चे को इस ढंग से प्रेरित करें कि वह उत्तर देते समय अपने विचारों को तार्किक एवं प्रवाहपूर्ण तरीके से व्यक्त कर सके।

2. **अहं अभिव्यक्ति के लिए अवसर (Opportunity for ego involvement) -** व्यक्ति की भांति बच्चों में भी अंह होता है और वह चाहता है कि उसकी खुद की एक अलग पहचान हो। अतः घर में अभिभावकों तथा विद्यालय में अध्यापकों को चाहिए कि वे बच्चों को उसकी क्षमता के अनुरूप कुछ जिम्मेदारियाँ दें, जिसका निर्वाह कर उसे यह अहसास हो कि अमूक कार्य उसके हाथों से संपन्न हुआ है। अभिभावकों तथा शिक्षकों द्वारा ऐसा किये जाने पर बच्चे जहाँ भविष्य में आनेवाली समस्यात्मक परिस्थितियों के समाधान करने एवं वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करने के लिए मानसिक रूप से तैयार होते हैं वहीं दूसरी ओर उनके चिंतन का क्षेत्र भी काफी व्यापक होता चला जाता है।

3. **झिझक एवं डर को दूर करना (Removal of hesitation and fear) -** झिझक तथा डर कई बार बच्चों में हीन भावना उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण वह किसी भी चीज को भलि–भाति जानते और समझते हुए भी व्यक्त नहीं कर पाता है। बच्चों में पाए जानेवाले इस झिझक तथा डर को दूर किया जाना चाहिए। इसके लिए घर में माता–पिता एवं अभिभावकों तथा विद्यालय में शिक्षकों द्वारा बच्चे को लिखकर या बोलकर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

4. **सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए उचित अवसर एवं वातावरण प्रदान करना (Providing appropriate opportunities and atmosphere for creative expression) -** बच्चों में सृजनात्मकता को विकसित करने के लिए स्वस्थ एवं उचित वातावरण की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए विद्यालय एवं कक्षा के वातावरण को शिक्षण के अनुकूल बनाने के साथ–साथ बच्चों को पाठ्य–सहगामी क्रियाओं, सामाजिक उत्सवों, मेलों, प्रदर्शनों में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। साथ–ही घर पर अभिभावकों द्वारा बच्चों को चित्रकारी करने, नई–नई कविताओं एवं कहानियों की रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, ताकि उसमें सृजनात्मकता का विकास हो सके।

5. **मौलिक व लचीलें चिंतन को प्रोत्साहित करना (Encouraging original and flexible thinking) -** बच्चों को विद्यालय तथा घर में ऐसा वातावरण प्रदान किया जाना चाहिए जिससे उसमें मौलिक चिंतन का विकास हो सके। इसके लिए विद्यालय में कई प्रकार के कार्यक्रमों एवं प्रतियोगिताओं जैसे, निबंध प्रतियोगिता, भाषण प्रतियोगिता, कविता–पाठ प्रतियोगिता इत्यादि का आयोजन कर उसमें अच्छा प्रदर्शन करने वाले विद्यार्थियों को पुरस्कृत किया जाना चाहिए।

6. **वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करना (To develop scientific approach) -** अध्यापकों को कक्षा के भीतर एवं कक्षा के बाहर विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए शिक्षकों द्वारा बच्चों के परंपरागत व्यवहार को प्रोत्साहित करने के बजाय किसी भी समस्या का समाधान नए–नए विचारों एवं योजनाओं द्वारा करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, ताकि बच्चों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो सके। इसके लिए मस्तिष्क उद्वेलन एवं सहकारी अधिगम इत्यादि आधुनिक शिक्षण पद्धतियों का अधिकाधिक उपयोग किया जाना चाहिए।

7. **पाठ्यक्रम का उचित समायोजन (Proper organising of curriculum) -** सृजनात्मकता के विकास में पाठ्यक्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अतः विद्यालय में इसका आयोजन इस ढंग से किया जाना चाहिए, ताकि वह बच्चों में अधिक–से–अधिक जिज्ञासा उत्पन्न कर सके क्योंकि जिज्ञासा ही सृजनात्मकता का प्रमुख द्वार है। पाठ्यक्रम विद्यार्थी केन्द्रित होना चाहिए तथा इसमें तथ्यों के अलावा काल्पनिक विचारों का भी समावेश किया जाना चाहिए।

निःसंदेह शैक्षिक दृष्टि से सृजनात्मकता का अत्यंत महत्व है। इसलिए सृजनात्मक प्रवृत्ति के बालकों को प्रारंभ से पहचान कर उनके विकास की विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे वे सृजनात्मकता साहित्य, कला, विज्ञान सहित विविध क्षेत्रों में अपना योगदान कर सकें। विद्यार्थियों में सृजनात्मकता को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक होगा कि उन्हें

उन्मुक्त वातावरण, उचित सामग्री तथा पर्याप्त अवसर प्रदान किए जाएं। अध्यापक अपने विद्यार्थियों की सृजनात्मक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने तथा उनके विकास करने के कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

समेकन

सृजनात्मकता का तात्पर्य है दूसरों से हटकर या भिन्न तरीके से सोचना और करना। सृजनात्मक चिंतन में कई तत्व सम्मिलित होते हैं, जैसे – धारा प्रवाहिता, लचीलापन, मौलिकता, तथा विस्तारण। बच्चों में सृजनात्मकता के विकास हेतु बहुत से तरीके खोजे जा चुके हैं। लगातार प्रशिक्षण से सृजनात्मकता का विकास संभव है। इसलिए सृजनात्मकता के विकास के लिए अभिभावकों तथा शिक्षकों की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अतः कह सकते हैं कि उचित विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग कर बच्चों में सृजनशक्ति को विकसित किया जा सकता है।

मूल्यांकन

1. सृजनात्मकता से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. सृजनात्मकता के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
3. बच्चों में सृजनात्मकता के विकास हेतु विविध तरीके सुझाएं।
4. बुद्धि और सृजनात्मकता के मध्य क्या अंतर्संबंध है? स्पष्ट करें।
5. सृजनात्मकता को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों की विस्तार से चर्चा करें।
6. बच्चों में सृजनात्मकता की पहचान एवं उसके विकास के लिए आप क्या उपाय करेंगे?
7. शिक्षण एवं अधिगम प्रक्रिया में सृजनात्मकता के महत्व को विस्तार पूर्वक लिखें।
8. सृजनात्मक बच्चों की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसके पहचान के लिए अपने स्तर से किये जानेवाले प्रयासों का वर्णन करें।
9. सृजनात्मकता को परिभाषित करें एवं सृजनात्मक चिंतन में सम्मिलित चरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

इकाई 4

खेल और बाल–विकास

परिचय

हममें से अधिकांश लोग अपने बचपन को जी भर खेलने की अवधि के रूप में याद रखते हैं जिस दौरान हम कभी थकते नहीं थे। बचपन केवल खेल–क्रीडा तथा मौज मस्ती का ही समय होता था। फिर भी हम में से कई वयस्क ऐसे भी हैं, जो यह सोचते हैं कि खेलना मात्र समय को बर्बाद करना है। हम वयस्क ऐसे बच्चों की अक्सर भर्त्सना करते हैं, जो खेल में अपना अधिकांश समय व्यतीत करते हैं तथा उनको परामर्श देते हैं कि वे अपना समय कुछ अच्छी चीजों को सीखने में लगाएं। अतः हम बच्चों को खेलों से हटाकर बहुत जल्द उन्हें औपचारिक शिक्षा में अपना समय लगाने के लिए कहते हैं। उस समय हम भूल जाते हैं कि शिक्षा का रास्ता खेल से होकर गुजरता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस बात से असहमत हो जाएंगे कि खेलना समय की बर्बादी नहीं है। आप यह समझ पायेंगे कि बच्चों के विकास की प्रक्रिया में खेलकूद की भूमिका क्या है? खेलकूद किस प्रकार बच्चे के बहुमुखी विकास की गति को बढ़ाने में सहायक है तथा खेलकूद के अभाव से बच्चे का विकास किस प्रकार प्रभावित होता है? एक प्रभावी शिक्षक होने के लिए, हमें यह जानना आवश्यक है कि खेल बच्चों का विकास प्रक्रिया में क्या भूमिका निभाता है? इस इकाई में हम देखेंगे कि बच्चों के विकास एवं सीखने में खेल की अहम् भूमिका होती है। खेल से जुड़े ऐसे कई अहम् सवालों पर चर्चा करेंगे जैसे, खेल के मायने क्या हैं? उनकी विशेषताएँ क्या हैं? उनके प्रकार एवं स्वरूप क्या हैं? क्या खेल भी बच्चों के सीखने–समझने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है? बच्चों के विकास में खेलों की क्या भूमिका है?

वयस्क, बच्चों की प्रकृति और खेल के महत्त्व के बारे में अलग–अलग दृष्टिकोण रखते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि बच्चों के विकास और शिक्षा में खेलों की अहम् भूमिका है और बच्चों को खेलने के मौके दिए जाने चाहिए, जबकि कुछ मानते है कि खेल से बच्चे बिगड़ जाते हैं, खेल पढ़ाई में बाधा डालता है और खेलों द्वारा बच्चों को नियंत्रित करना उचित है। यह संकीर्ण दृष्टिकोण अब बदल रहा है। खेल आत्मकेन्द्रित, काल्पनिक, सृजनशील और आनंददायी होता है। बच्चों के समग्र विकास और सीखने के लिए बच्चों को सभी प्रकार के खेल खेलने के मौके मिलने चाहिए। हम एक शिक्षक, अभिभावक या नागरिक के रूप में इन पहलुओं के प्रभाव को समझ कर बच्चों के खेल का ज्यादा कारगर रूप से समर्थन दे सकते हैं।

खेल से आशय

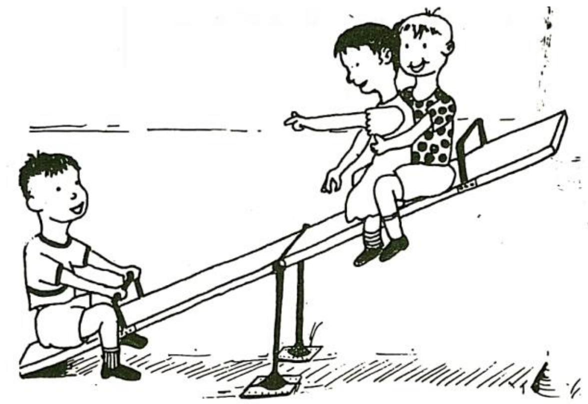

अधिकांश लोग खेल के बारे में पूछते ही अपने बचपन में खेले जाने वाले खेलों के बारे में सोचने लगते हैं। हम सभी को खेलना बहुत पसंद था। खेल से मिलने वाले असीम आनंद की कल्पना हमें छू जाती है। गुड्डे–गुड़िया से खेलना, झूला झूलना, लुकाछिपी, बैट–बॉल, दौड़ना, शतरंज खेलना, अभिनय करना इत्यादि कई खेल के उदाहरण दे डालते हैं। हम सभी का विचार यही होता है कि खेल से हमें केवल आनंद मिलता है। परंतु क्या हमनें कभी सोचा है कि खेल क्या है? बच्चे खेल क्यों खेलते हैं? क्या उससे वे कुछ सीखते हैं? आइये अब हम यह जाने कि खेल क्या है?

खुशबू कक्षा 5 में पढ़ती है। सुबह 7 बजे स्कूल जाती है, तीन बजे तक घर लौटती है। दोपहर का खाना खाने के बाद थोड़ी देर आराम करती है। चार बजे गृहकार्य करना आरंभ करती है, पुनः छः बजे उसके ट्यूशन टीचर आ जाते हैं। आठ बजे वह टीवी पर आने वाले अपने मनपसंद कार्यक्रम को देखती है। फिर रात दस बजे वह सो जाती है। खुशबू को अपनी कक्षा में 90% मार्क्स आते हैं।

सोनाली भी कक्षा 5 की विद्यार्थी है। वह भी सुबह 7 बजे स्कूल के निकलती है एवं 3 बजे वापस घर लौटती है। थोड़ी देर आराम करने के बाद वह बगल के पार्क में अपने दोस्तों के साथ 1 घंटा खेलने जाती है। वापस आने पर वह गृहकार्य पूरा करती है तथा अपने ट्यूशन टीचर से भी पढ़ती है। सोनाली को 95% मार्क्स आते हैं।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में दोनों बच्चे एक–समान कक्षा में पढ़ते हैं तथा एक–समान दिनचर्या ही पूरी करते हैं। परंतु खुशबू एवं सोनाली के क्रियाकलापों में अंतर यह है कि सोनाली अपने पूरे दिन में से 1 घंटा का समय अपने दोस्तों के साथ खेलने में बिताती है। पुनः दोगुने उत्साह के साथ अपना होमवर्क और पढ़ाई करती है। खेल उसके पढ़ाई में

बाधक नहीं, बल्कि सहायक का काम करता है। वस्तुतः खेल मनोरंजन का एक प्रमुख साधन तो है ही साथ–ही बच्चों की स्वाभाविक रूचि भी इसमें होती है।

खेल की अवधारणा

खेल मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है। इस स्वाभाविक इच्छा का कारण है खेल से प्राप्त होने वाला आनंद। श्याम को गणित के सवाल हल करने में आनंद आता है। राजू को पुस्तकें पढ़ने में आनंद आता है। विनय को पढ़ने के बाद माँ के कामों में हाथ बँटाना पसंद है। क्या हम इन सभी क्रियाकलापों को खेल की संज्ञा दे सकते हैं? हम कह सकते हैं कि हाँ, जबतक इन कामों में बच्चों को आनंद मिलता है, ये क्रियाएँ खेल कहला सकती हैं। खेल की कई विद्वानों ने अलग–अलग तरीकों से व्याख्या की हैः–

- खेल वह है जो हम खाली समय में अपनी पसंद से करते हैं।
- खेल ऐसी क्रिया है, जो अपने–आप में स्वतंत्र, उद्देश्यहीन एवं आनंदपूर्ण होती है और ध्यान दूसरी ओर खींचती है।
- "खेल बच्चों के मानसिक क्षमताओं के विकास का साधन है।" जीन पियाजे
- "खेल अपूर्ण रह गई इच्छाओं का स्थापन और अतीत की घातक घटनाओं से मुक्ति एवं पुनर्जीवन का एक मार्ग है।" – एरिक्सन और अन्ना फ्रायड

उपयुर्क्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि खेल इसलिए खेले जाते हैं, क्योंकि इससे आनंद मिलता है। खेल–कूद में अंतिम परिणाम या उपलब्धि का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उस दौरान मिलने वाले आनंद का। किसी क्रिया विशेष को 'खेल' माना जा सकता है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह क्रिया बच्चे अपनी स्वेच्छा से कर रहे हैं, अथवा किसी के विवश करने पर। वैसा कार्य जिसमें नियमों की संरचना हो और जिसको आनंद प्राप्ति एवं शिक्षा प्रदान करने के लिए किया जाए उसे हम खेल कहते हैं।

खेल की विशेषताएँ

खेल के कुछ विशेष गुण होते है। प्रस्तुत विवरणों में बच्चों द्वारा किए गए कई क्रियाकलाप हैं, जैसे – बर्तन बजाना, हँसना, कूदना, कुछ बनाना या निर्माण करना, गिनना, स्वांग रचना, धक्का–मुक्की करना इत्यादि।

क्या आप इन क्रियाकलापों में कोई विशेष बात पहचान सकते हैं ?

- 18 महीने का नंदन स्टील की चम्मच कटोरी बजाता है और उससे निकली तर्ज आवाज को सुनकर हँसता है। अचानक पिता आए। पिता को देख जोर–जोर से किलकारी मारता है। ऐसा वह बार–बार करता है।
- साढ़े 3 वर्षीय गुड़िया छोटे बर्तन में पानी भरती है और उसे एक गिलास में उड़ेल देती है। फिर गिलास में भरे पानी को पुनः उसी बर्तन में डालती है। जो वह कर रही है उसे अपने आप से बोलती भी है। फिर चाय का स्वांग करती है और नाना–नानी को अपने खिलौना–नुमा कप में चाय उड़ेलते हुए कहती है, "नाना

चाय पी लो, मैंने चाय बना दी है। अब जो चाय नानी बनाएँगी, वह मत पीना।'

- 5 वर्षीय ईशा बार–बार 2–3 सीढ़ी चढ़ती और कूदती है। कूदने के पहले 1, 2, 3 कहती है।
- 6 वर्षीय सिद्वार्थ को स्कूल जाते हुए मैदान में उसका सहपाठी सन्नी मिलता है। सिद्वार्थ उसके साथ कुश्ती करने की नकल करता है। दोनों खूब हँसी–ठिठोली करते हैं, फिर बातें करते हुए कक्षा में चले जाते हैं।

- **खेल स्वप्रेरित और स्वनिर्देशित होता है:–** खेल एक स्वाभाविक और आत्मप्रेरित प्रक्रिया है जिसके लिए किसी को कहना नहीं पड़ता है। खेल में बच्चे स्वयं तय करते हैं कि वे क्या करना चाहते हैं? उन पर कोई दबाव नहीं होता। जैसे – ईशा सीढ़ी पर बार–बार कूदकर खेल रही है। वह न तो प्रशंसा की अपेक्षा करती है और न ही कूदने के कौशल को देखाने की। वह स्वप्रेरित है, खुश है और अनायास उसका शारीरिक और क्रियात्मक विकास हो रहा है।
- **खेल में प्रक्रिया ज्यादा महत्त्वपूर्ण है न कि परिणाम:–** बच्चे खेलते हैं, क्योंकि उन्हें खेलना है। उनका कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं होता है। जिन खेलों के उद्देश्य होते भी हैं तो वे खेल में निहित होते हैं। जैसे, सिद्वार्थ सन्नी से कुश्ती लड़ता है, तो उसका उद्देश्य सन्नी को पराजित करना नहीं है। वह अपनी खुशी के लिए ऐसा करता है। उसी तरह प्रतिस्पर्धात्मक खेल में जीतना एक उद्देश्य तो होता है, परन्तु खेल अपने आप में संतुष्टि देता है। जब खेल केवल ट्राफी जीतने, तारीफ या प्रतिष्ठा बढ़ाने का साधन हो जाता है, तो वह पूरी तरह से खेल नहीं रहता।
- **खेल में मानसिक नियम होते है:–** भले ही खेल स्वप्रेरित होता है, परन्तु खेलते हुए बच्चे अपने मन में कुछ नियम बनाते हैं। उदाहरण के लिए, खेल में एक बच्ची के लिए माँ की भूमिका को लेकर कुछ नियम होते हैं। जब बच्चे समूह में खेलते हैं, तो सभी की नियमों को लेकर सहमति होनी चाहिए। नियम कुछ सीमाएँ बाँध देते हैं, जिसके अनुसार सभी को खेलना होता है।
- **खेल कल्पनाशीलता और सृजनात्मक होते हैं:–** खेल के दौरान बच्चे वास्तविकता से कुछ परे एक काल्पनिक दुनिया में चले जाते हैं। जैसे – माचिस की डिब्बियों को एक पंक्ति में सजाते हुए रेलगाड़ी बन जाती है और पेंसिल इंजेक्शन का रूप ले लेती है। नाटकीय खेल में बच्चे अलग–अलग भूमिकाएँ धारण करते हैं। साधनों के अभाव में बच्चे नए खेल बना लेते हैं और उनके लिए नए नियम भी बना लेते हैं। उदाहरण के लिए, पाँच खेलते हुए कनेर के बीज न मिलने पर बच्चे गोल पत्थर से यह खेल खेल लेते हैं या अस्टचंगा के लिए कौड़ियाँ न हो तो इमली का बीजों का उपयोग करते हैं।
- **खेल आनंददायी होते हैं:–** खेल एक ऐसी प्रक्रिया है, जो बच्चों को आनंद देती है। उनमें ताजगी और स्फूर्ति लाती है। खेल के दौरान बच्चे सजग और सक्रिय रहते हैं। आमतौर पर बच्चे इसलिए खेलते हैं, क्योंकि वे खेलना चाहते हैं और खेल से उत्पन्न भावनाएँ उन्हें अच्छी लगती हैं। आमतौर पर बच्चे बिना दबाव के खेलते हैं, परन्तु ऐसा हमेशा नहीं होता। खासकर तब, जब आपको जीतने के लिए ज्यादा प्रयास करना

पड़ता है या फिर जब खेल हमारे ऊपर इतना हावी हो जाता है कि हम उसे रोक नहीं पाते। जैसे – कभी–कभी इलेक्टॉनिक खेलों के दौरान होता है। हम विडियो गेम खेलते जाते हैं, भले ही वह हमारी भूख, नींद और दिनचर्या में बाधा उत्पन्न करे। यदि तनाव बहुत अधिक हो जाता है या हम खेलने के लिए विवश महसूस करने लगते हैं तो वह खेल, खेल नहीं रहता। कई बार ऐसा करने में मजा आता है। हिंसा और क्रूरता खेल नहीं है।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि बच्चे खेल रहे हैं। तो वे उस क्रिया में गंभीर नहीं होते। यह धारणा सही नहीं है। बच्चे अपने खेल को गम्भीरता से लेते हैं। अगर उनके खेल में कोई व्यक्ति हस्तक्षेप करे या उसमें बदलाव करे, तो बच्चे इसे पसंद नहीं करते।

बच्चों के विकास के संदर्भ में महत्त्व

शाम के साढ़े पाँच बजे थे। कक्षा आठ में पढ़ने वाले शुभम दोपहर बाद का सारा समय अपना गृहकार्य करने में बिताया था और अब वह अंधेरा होने से पहले कुछ देर खेलना चाहता था। उसने अपना बल्ला उठाया और अपनी माँ से बोला, ''मम्मी, मैं कुछ देर खेलने जा रहा हूँ।'' ''क्या तुमने अपना गृहकार्य पूरा कर लिया है?'' माँ ने पूछा। ''हाँ मम्मी कर लिया।'' शुभम ने कहा। तो अभी थोड़ी देर और बैठकर पढ़ो। तुम्हें पता है, जल्दी–ही तुम्हारी मासिक परीक्षा होगी और उसमें केवल गृहकार्य पूरा करने से ही तुम्हारे अच्छे अंक नहीं आ सकते।''

''लेकिन मम्मी मैं सिर्फ आधे घंटे खेलूँगा, उसके बाद वापस आ जाऊँगा।''

''नहीं, तुम रोजाना यही कहते हो। बाद में तुम्हें खेलने के लिए खूब समय मिलेगा।'' और उसके बाद शुभम डबडबाई आँखों से बैठ जाता है और पढ़ने के लिए अपनी किताबें पलटने लगता है।

क्या आप शुभम की माँ के निर्णय से सहमत होंगे? बच्चे के विकास में खेल–कूद की क्या भूमिका होती है? क्या यह सामान्य–सी बात है कि शुभम की माँ, उसे रोजाना आधे घंटे के लिए भी खेलने की अनुमति नहीं दे सकती?

शारीरिक एवं पेशीय गति विकास

बच्चे के शारीरिक विकास के लिए शारीरिक खेल आवश्यक हैं। इस प्रकार के खेलों से बच्चे की माँसपशियां विकसित एवं मजबूत होती हैं। साथ–ही शरीर के सभी अंगों का व्यायाम भी हो जाता है। खेलने से खूब भूख लगती है और अच्छी नींद आती है। खेलकूद में भाग लेने से बच्चा अपनी विभिन्न शारीरिक क्रियाओं जैसे – दौड़ना, ऊँची–कूद, लम्बी–कूद, साइकिल चलाना, पेड़ पर चढ़ना इत्यादि पर नियंत्रण रखना सीख जाता है, अर्थात्, इस प्रकार के खेल बृहत पेशीय कौशलों के विकास में सहायक होते हैं।

खेल सूक्ष्म पेशीय कौशलों के विकास में भी सहायता करता है। प्राथमिक विद्यालय में पढ़ते समय बच्चे साइकिल चलाना, स्टापू (हॉपस्कॉच), गेंद खेलना, गिल्ली डंडा, रस्सी कूदना और खेल क्रियाओं द्वारा चुस्ती–फुर्ती, संतुलन बनाना, निशाना लगाना जैसे कौशल सीखते हैं।

भाषा विकास

बच्चे के भाषा विकास में खेल की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। खेलते समय बच्चे एक–दूसरे से बातचीत भी करते हैं, जिससे भाषा विकास में सहायता मिलती है। खेल के दौरान उन्हें इस प्रकार अपनी बात कहनी होती है कि दूसरे उसे समझ सकें और इसी तरह दूसरे उनसे क्या कहने की कोशिश कर रहे हैं, उसे समझना भी उन्हें सीखना होता है। स्पष्ट है कि खेल बच्चे की भावाभिव्यक्ति करने, अपनी बात स्पष्ट करने, व्याख्या करने, दूसरों की बातें समझने तथा प्रश्न करने और जानकारी प्राप्त करने संबंधी योग्याताओं के विकास में योगदान देते हैं।

शब्द पहेली, काव्य पहेली, आदि से शब्द भंडार को बढ़ाने में सहायता मिलती है।

संज्ञानात्मक विकास

पुस्तक, टेलीविजन, खेल–कूद पर्यावरण के साथ अंतःक्रिया इत्यादि के माध्यम से खेल बहुत–सी बातें सीखने के अवसर प्रदान करती हैं। खेलने के दौरान बच्चे अनेक प्रकार की वस्तुओं को वर्गीकृत करना, श्रेणीबद्व करना और विभिन्न वस्तुओं के बीच संबंध स्थापित करना सीखते हैं। रेत–मिट्टी या गारे के साथ खेलने से बच्चों को यह सीखने समझने का अवसर मिलता है कि किस प्रकार थोड़े से हेर–फेर से ही इनसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, प्राथमिक विद्यालय की लड़की गीली मिट्टी से संभवतः सिर्फ गेंद और टिकिया बनाएगी। जैसे–जैसे वह बड़ी होगी, वह क्रमशः, सुरंग, रेत के घर (घरौंदे) सड़कें और यहाँ तक की बड़े–बड़े घर, किले, इत्यादि बनाने शुरू कर देगी। इन सभी क्रियाओं में क्रमशः अधिकाधिक उच्च स्तर की संज्ञानात्मक सक्रियता की आवश्यकता होती है।

स्मृति के विकास और विश्लेषण कर सकने की योग्यता, तर्क शक्ति तथा विभिन्न विकल्पों पर सोच सकने की योग्यता के विकास में भी खेलकूद सहायता करते हैं। 'लँगड़ी टाँग' एक सीधा सादा खेल है, जिसमें लड़के को सोचना पड़ता है कि अपने साथी को पकड़ने के लिए उसे किस दिशा में जाना है। उसे ऐसी कौन–सी दिशा में जाना चाहिए ताकि वह अपने साथी या उससे बच सके। इसी तरह 'खो–खो', कबड्डी, गेंद–मारा–मारी जैसे दूसरे खेलों में भी बच्चों को जटिल चिन्तन प्रक्रियाओं का प्रयोग करना होता है।

खेल के माध्यम से बच्चा ऐसी योग्यताएँ भी विकसित कर लेता है जिनसे वह उस समय लिए हुए कार्य पर ध्यान केन्द्रित करता है। पहेलियाँ हल करना, किताबें पढ़ना, सामूहिक खेल–कूद जैसे क्रियाकलापों में बच्चे को एक निश्चित समय के लिए, क्रिया–विशेष के लिए एकाग्रचित होना पड़ता है, जिससे उसके अवधान और एकाग्रचितता में सुधार होता है।

समाजिक एवं संवेगात्मक विकास

बच्चे के समाजिक संवेगात्मक विकास के लिए खेल–कूद अत्यधिक आवश्यक है। प्रारंभ में खेल ही ऐसा माध्यम होता है, जिसके माध्यम से बच्चे सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होते हैं। खेल के समय बच्चा दूसरे अनेक बच्चों के संपर्क में आता है, जिससे वह भिन्न–भिन्न बच्चों के साथ सीखता है। वह मिल–बाँट कर कार्य करना, दूसरे बच्चे को सहयोग देना, एक–दूसरे के साथ–साथ लेन–देन करना और दूसरों के दृष्टिकोण को समझना सीखता है। दूसरे बच्चों के साथ खेलने के जितने अधिक अवसर उसे मिलते हैं उतने ही ज्यादा सामाजिक कौशलों को ग्रहण करने के मौके उसे मिलते हैं।

दूसरें बच्चों के साथ खेलने से बच्चे में स्वस्थ्य स्पर्धा की भावना के विकास में सहायता मिलती है और वह एक अच्छा खिलाड़ी, एक अच्छा विजेता या पराजयी होना सीख जाता है। खेलकूद से बच्चों को नियमों का पालन करना सीखने के अवसर भी मिलते हैं।

काल्पनिक खेलों में बच्चे ऐसी घटनाओं, स्थितियों या पा़त्रों का अभिनय करते हैं, जिन्हें वे अपने आस–पास देख चुके होते हैं। काल्पनिक खेलों के माध्यम से ही वे अपनी लिंग आधारित भूमिकाएँ सीखते हैं, अर्थात् लड़कों की सामाजिक भूमिका क्या होती है और लड़कियों की क्या, इसे सीखने का अवसर काल्पनिक खेलों से मिलता है। ऐसी इच्छाएँ या आवश्यकताएँ जो यथार्थ में पूरी नहीं हो सकतीं, वे प्रायः इन खेलों के माध्यम से पूरी हो जाती हैं। जो बच्चा अपने वास्तविक जीवन में नेतृत्व कर पाने में असमर्थ रहता है, हो सकता है, वह सिपाही वाले खिलौनों के नेता की कल्पना द्वारा अपनी इस इच्छा को संतुष्ट कर ले। खेल के माध्यम से बच्चा अपने मन में छुपी ऐसी कुंठित और आक्रामक भावनाओं और संवेगों को भी निकाल बाहर करता है, जिन्हें वह अन्य किसी प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर सकता। छोटा बच्चा जो अपनी वास्तविक जिन्दगी में दादागीरी करने वाले लड़के से बदला नहीं ले सकता, वह अपने खिलौनों को फेंककर, तोड़–फोड़ कर या सजा देकर अपना गुस्सा निकाल सकता है। खेलते समय बच्चा बिना किसी रूकावट के अपने खिलौनों आदि को फेंक सकता है, तोड़कर चूर–चूर कर सकता है, मरोड़ सकता है और अक्सर ऐसा करने से स्वयं को दबाव मुक्त महसूस करने लगता है।

खेल–कूद में बच्चों को अपनी योग्यताओं और कौशलों को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। वे अपनी योग्यताओं को समझ सकते हैं और अपनी योग्यताओं की तुलना अपने साथी खिलाड़ियों से करना सीखते हैं। इन सबसे बच्चे में स्वयं के बारे में अधिक यथार्थपूरक तथा स्पष्ट धारणा विकसित होती है, अर्थात्, बच्चा अपनी वास्तविकताओं को समझने लगता है, अपने गुण दोषों का अहसास करने लगता है।

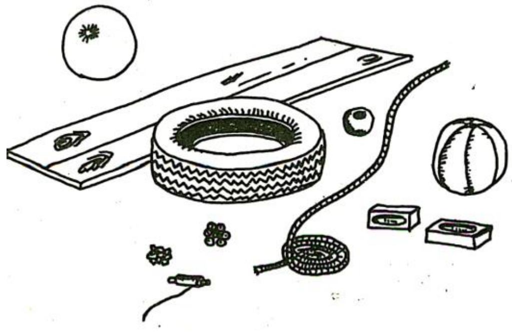

सृजनात्मक एवं कल्पनात्मक शक्ति का विकास

खेल–कूद के दौरान बच्चों को कल्पना और सृजनशीलता विकसित करने के अनेक अवसर मिलते हैं। काल्पनिक या नाटकीय खेलों में बच्चा अपनी कल्पना शक्ति का भरपूर प्रयोग

करते हैं। पुलिस और चोर, डाक्टर–मरीज, शिक्षक–छात्र इत्यादि खेलते हैं। एक पल के लिए बच्चा डॉक्टर बनता है, तो दूसरे पल वह मरीज का अभिनय कर रहा होता है।

काल्पनिक अभिनय के माध्यम से बच्चा विभिन्न चरित्रों का अभिनय करता है, जिससे उसकी मौलिक अभिव्यक्ति में सुधार होता है। वह व्यक्तियों और वस्तुओं के बीच नवीन संबंधों के बारे में सीखता है। खेलते समय बच्चा अपने आस–पास उपलब्ध वस्तुओं को उलट–पलट कर देखता है। अपनी इच्छानुसार उन्हें तोड़ने–मरोड़ने, बदलने, चलाने–फिराने की कोशिश करता है और इन सबसे नई वस्तुओं की सर्जरी कर डालता है। यह सब उसकी सृजनात्मकता के विकास में सहायक होता है। वे मिट्टी, रद्दी सामान और कागज वगैरह से नई–नई चीजें बनाना सीख जाते हैं।

खेल का महत्व

- शारीरिक तथा क्रियात्मक क्षमताओं के विकास को बढ़ावा देना।
- आत्मविश्वास तथा आत्म–सम्मान को बढ़ावा देना।
- सहयोग की भावना विकसित करना।
- सामाजिक मूल्यों को सीखने की संभावना को बढ़ाना।
- संज्ञानात्मक विकास को प्रोत्साहन देना।
- कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता के विकास में सहायक होना।
- भाषाई विकास में मददगार होना।
- सांवेगिक अभिव्यक्ति का विकास होना।

बच्चों के खेल:विविध प्रकार एवं संदर्भ

आइए, अब इस बात को समझने का प्रयास करें कि बच्चे कैसे खेलते हैं। इन स्थितियों पर विचार कीजिए:

1) श्रीमती शर्मा ने अपने (आठ वर्षीय) बेटे से कहा– ''ऋषि', मुझे शाम को बाजार जाना है। क्यों न तुम आज घर पर ही रहो और अपनी बहन अनु (तीन वर्षीय) के साथ खेलो, अन्यथा वह बिल्कुल अकेली रह जाएगी।''

   'नहीं मम्मी नहीं।' ऋषि ने कहा, '' मुझे अपने दोस्तों के साथ जाकर खेलना है। मुझे आज राकेश से अपने कंचे (काँच की गोलियाँ) जीतकर लाने हैं, और फिर अनु, तो मेरे साथ कभी खेलती नहीं है। वह तो अपनी गुड़िया के साथ खेलती रहती है और खाने के लिए मुझे काल्पनिक वस्तुएँ देती रहती है। आप उसे अपने साथ ही बाजार ले जाइए।''

   आपके मन में यह विचार क्यों आया कि ऋषि सिर्फ अपने मित्रों के साथ ही खेलेगा और अनु उसे अपने खेल में शामिल नहीं करेगी? आपमें से कई लोग कहेंगे कि दोनो की आयु में जो अंतर है, वही इसका कारण हैं। जी हाँ, आप बिल्कुल ठीक समझ रहे हैं। ऋषि की आयु आठ वर्ष है, जबकि उसकी छोटी बहन अनु सिर्फ तीन वर्ष की है। दोनों के साथ न खेलने की यही वजह हो सकती है।

आइए, अब इस स्थिति पर विचार करते हैं:–

2) अपनी साढ़े चार वर्ष की बेटी राधा के चिल्लाने की आवाज सुनकर और उसे अपनी ओर भागते हुए आती देखकर श्रीमती मल्होत्रा बुनाई करना बंद कर देती हैं। ''राधा, क्या हुआ? तुम चिल्ला क्यों रही हो?'' उन्होंने पूछा। राधा ने सुबकते हुए बताया, ''मम्मी, अनु (3 वर्षीय) मुझे अपनी साइकिल पर नहीं बिठा रही।'' ''कोई बात नहीं'' श्रीमती मल्होत्रा ने कहा, ''तुम जाकर लक्ष्मी के साथ खेलो।'' राधा ने अपनी गुड़िया और खेलने के बर्तन उठाए और अपनी दो वर्षीय बहन लक्ष्मी से बातें करते हुए प्रसन्नतापूर्वक झूठ–मूठ के चाय–पकोड़े बनाने प्रारंभ किये। अचानक उसने देखा कि लक्ष्मी का ध्यान उसकी तरफ नहीं था वह बर्तनों को ऊपर–नीचे रखने में व्यस्त थी।

आपके विचार में अनु ने राधा को अपनी साइकिल पर क्यों नहीं बिठाया? लक्ष्मी ने राधा के खेल में रूचि लेने की बजाय अपने–आप ही खेलना क्यों शुरू कर दिया? पहले उदाहरण की तरह यहाँ भी इसका कारण उनकी आयु से संबंधित है। बच्चे को किस प्रकार के खेल में आनन्द आएगा, यह उसकी आयु पर निर्भर करता है। जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है, उसे भिन्न–भिन्न प्रकार के खेल अच्छे लगते हैं। आपके मन में अवश्य यह प्रश्न उठ रहा होगा कि विभिन्न आयु स्तरों पर बच्चों को अच्छे लगने वाले खेलों के विभिन्न प्रकार कौन–कौन से हैं? नीचे दिये हुए चित्र की सहायता से खेल के विभिन्न प्रकारों को आप समझ सकते हैं।

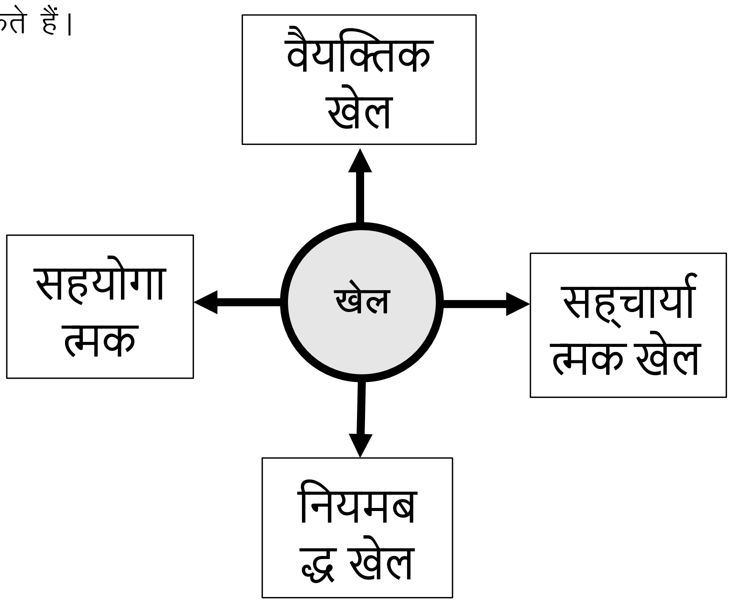

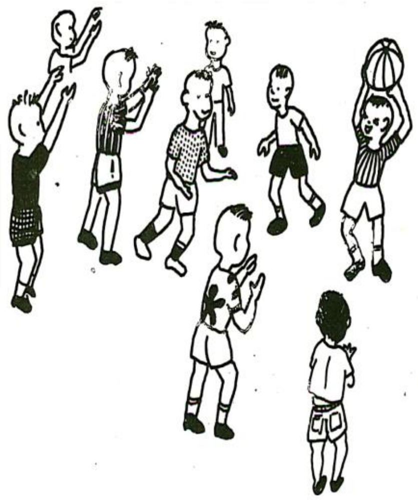

शैशवावस्था के दौरान, लगभग 2 वर्ष की आयु तक, बच्चा अकेला खेलना पसंद करता है। खेलते समय वह इस बात की कोई परवाह नहीं करता कि उसके आसपास दूसरे लोग क्या कर रहे हैं? इस आयु के बच्चों के खेल की विशेषता यह होती है कि वह बेहद सरल

किस्म की शारीरिक क्रियाओं को बार–बार दोहराता है। यही वजह है कि लक्ष्मी अपनी बहन राधा के क्रियाकलापों पर ध्यान देने की बजाय अपने आप खेलना शुरू कर देती है। एक शिशु लगातार अपना झुनझुना बजा रहा है, दूसरा बच्चा मिट्टी के खिलौने बनाते हुए खेल रहा है, जबकि उसी के पास बैठा एक और बच्चा 'ब्लॉक्स' वाले खेल खेल रहा है। ये सभी **अकेले–अकेले खेले** जाने वाले खेलों के उदाहरण हैं।

दो से साढ़े तीन वर्ष की आयु का बच्चा दूसरे बच्चों के साथ बैठकर बिना अधिक अंतःक्रिया (बातचीत) के ही पहले स्वतंत्र रूप से खेलना शुरू करता है। इस प्रकार के खेल **समानान्तर खेल** कहलाते हैं। साढ़े तीन से चार साल तक की आयु का बच्चा अपने खिलौने आदि से दूसरे बच्चों के साथ मिल–जुलकर खेलना सीख जाता है। इस अवस्था में बच्चा खिलौने आदि से विभिन्न प्रकार की खेल सामग्री से, खेलना पसंद करता है। इस प्रकार के खेल **साहचर्यात्मक** खेल कहलाते हैं।

तीन वर्षीय अनु हालाँकि राधा के साथ खेलना पसंद करती है, पर खेलने के लिए उसे अपनी साइकिल नहीं देना चाहती। जबकि साढ़े चार साल की राधा अपनी बहन लक्ष्मी के साथ अपने खिलौने बाँटकर खेलना पसंद करती है और साथ–ही वह अनु के साथ उसकी साइकिल से भी खेलना चाहती है।

जब बच्चे चार–साढ़े चार वर्ष के हो जाते हैं, तो वे दूसरों के साथ सहयोग करते हुए खेलना पसंद करते हैं। उनके खेल संगठित एवं सुनियोजित होते हैं और खेल में हर बच्चा अपनी एक विशिष्ट भूमिका निभाता है। उदाहरणार्थ, घर–घर खेलते समय 'मम्मी–पापा' की भूमिका निभाते हैं, या झूला–झूलते समय एक–दूसरे के साथ सहयोग करते हुए एक–दूसरे को झुलाते हैं। ऐसे में 'झूलने वाले' और 'झूलाने वाले' की अलग–अलग भूमिका भी निभा रहे होते हैं। इस प्रकार के खेल **सहयोगात्मक खेल** कहलाते हैं।

लगभग सात वर्ष की आयु तक के बच्चों को काल्पनिक खेल खेलना अच्छा लगने लगता है। इस प्रकार के खेलों में वे विभिन्न स्थितियों और घटनाओं में तरह–तरह की भूमिकाएँ लेते हुए अभिनय करते हैं। इस आयु वर्ग के बच्चों को अक्सर आप 'घर–घर', 'शिक्षक–शिक्षार्थी', 'डॉक्टर–मरीज' इत्यादि खेलते हुए देख सकते हैं। इन खेलों में वे 'माता–पिता', 'बच्चे', 'शिक्षक, डॉक्टर, मरीज, इत्यादि बने होते हैं।

सात वर्ष की आयु के बाद **'नियमानुसार खेल'** खेलने का दौर शुरू होता है। इस आयु के बच्चों को खेल के नियमों का पालन करते हुए खेलना अच्छा लगता है। खेल में विभिन्न कौशलों का प्रदर्शन करना जैसे, गति–नियंत्रण, लक्ष्य भेदना आदि बच्चे के खेल का महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है। इन कौशलों के प्रदर्शन में बच्चे एक–दूसरे को पीछे छोड़ देना चाहते हैं और उनमें एक तरह की प्रतियोगिता की भावना का विकास होता है। इस स्थिति में ऋषि अपने मित्रों

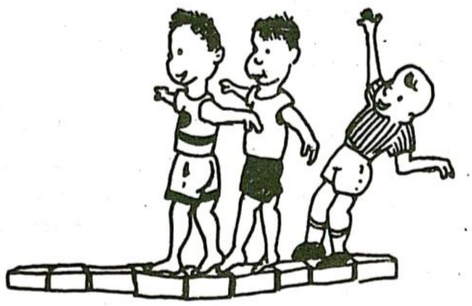

से अपने कंचे वापस जीत लेने के लिए कटिबद्व है। यहाँ वह राकेश को हरा देना चाहता है, ताकि यह सिद्व कर सके कि वह कंचे खेलने में राकेश की तुलना में श्रेष्ठ है। इस आयु में खेल के दौरान प्रदर्शित कौशल और योग्यताएँ समवयस्कीय साथियों द्वारा बच्चे को स्वीकार किए जाने के लिए महत्त्वपूर्ण मापदंड की तरह होते हैं।

इन अवस्थाओं में थोड़ा–बहुत लोच (फर्क) हो सकता है। ऐसा नहीं है कि साढ़े तीन या चार वर्ष की लड़की एकदम से केवल साहचर्यात्मक खेल शुरू कर देती है। वह इन्हें अपनी उम्र से कुछ समय पहले या कुछ और बड़ी होने पर भी शुरू कर सकती है। यह संधिकाल की स्थिति है, जब धीरे–धीरे साहचर्यात्मक खेल समानान्तर खेलों का स्थान ले लेते हैं। इसी तरह दूसरे प्रकार के खेलों में भी संधिकाल की स्थिति आती है, जब धीरे–धीरे एक प्रकार के खेलों का स्थान दूसरे प्रकार के खेल ले लेते हैं।

इसी के साथ किसी आयु विशेष में ऊपर बताए गए विभिन्न प्रकार के खेल एक–दूसरे के साथ भी देखे जा सकते हैं। जैसे, एक बड़ा बच्चा पहले हल करने जैसे अकेले खेले जाने वाले खेल को खेल रहा हो, तो उसे अपरिपक्व के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि यह स्वतंत्र रूप से खेले जाने वाला लक्ष्य आधारित खेल है।

जैसे–जैसे बच्चे की आयु बढ़ती है, उसके खेलों में सूक्ष्म पेशीय कौशलों का प्रयोग बढ़ता जाता है। अब बच्चा 'मैकेनो' (खिलौने निर्माण सामग्री जिसके कई छोटे–छोटे भाग होते है) कढ़ाई, बुनाई, पहेलियों इत्यादि जैसे खेलों का आनंद लेता है। इसका कारण अति उत्कृष्ट पेशीय कौशलों का विकास होता है। छोटा बच्चा जिसके सूक्ष्म पेशीय कौशल ठीक से विकसित नहीं हुए हैं, जैसे – चार वर्ष का एक बच्चा किसी भी क्रिया को करते समय अपनी खेल क्रियाएँ पसंद करेगा, जिनमें उसके सम्पूर्ण शरीर का प्रयोग होता हो जबकि थोड़ी बड़ी आयु के बच्चों को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं होती। खेलते समय दूसरे बच्चों से बातें करने (अंतःक्रिया करने) की आवश्यकता भी उन्हें पड़ती है। जैसे–जैसे वे बड़े होते हैं, वे ज्यादा अमूर्त रूप से चिंतन कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें खेल के दौरान बातचीत करने के लिए किसी वास्तविक व्यक्ति या बच्चे की आवश्यकता नहीं होती। वे उन पात्रों या आकृतियों से अंतःक्रिया करते हैं जिन्हें उन्होंने कामिक्सों और पुस्तकों में पढ़ा हो या टेजीविजन में देखा हो।

खेल के कुछ अन्य प्रकार

- **ओजस्वी खेल** – जिस खेल में ज्यादा ऊर्जा की आवश्यकता होती है।
- **शांत खेल** – वैसे खेल जिसमें अधिक शारीरिक क्रिया की आवश्यकता नहीं होती है।
- **मुक्त खेल** – वैसे खेल का उदाहरण जिसमे बच्चा स्वयं मिट्टी के खिलौने बनाता है।
- **संरक्षित खेल** – बच्चा किसी व्यस्क के हस्तक्षेप या निर्देशन के बाद मिट्टी के खिलौने बनाता है।
- **बाहरी खेल** – खुले मैदान में खेले जाने वाले खेल।
- **भीतरी खेल** – घर में या क्रीडांगन में खेले जाने वाले खेल।
- **वैयक्तिक खेल** – अकेले खेलने वाला खेल।
- **सामूहिक/सहयोगात्मक/साह्चार्यात्मक खेल** – दो या दो से अधिक बच्चों के साथ खेलने वाले खेल।
- **नियमबद्ध खेल** – खेल जो नियमों से बंधे होते हैं, उनके पूर्व से नियम निर्धारित होते

हैं।

- **प्रतीकात्मक खेल** – वह खेल जिसमें किसी पात्र का अभिनय/चरित्र अपनाकर खेला जाए। जैसे दूध वाला, शिक्षक–छात्र, डॉक्टर–मरीज़ इत्यादि
- **संवेदी क्रियात्मक खेल** – काल्पनिक खेल जिसमें बच्चे किसी वस्तु की कल्पना कर खेलते हैं। जैसे टिन के डिब्बे को घर समझना, दादाजी की पीठ को घोड़ा समझना।

बच्चों के विविध खेलः सीखने सिखाने के माध्यम के रूप में

उपरोक्त अंशों में हमने देखा कि बच्चे किस–किस तरह से खेलते हैं, उम्र के साथ उनके खेलों में किस तरह बदलाव आता है और खेल उनको कैसे प्रभावित करता है। विचारणीय है कि क्या बच्चे सीखने के लिए खेलते हैं या खेलते–खेलते सीख जाते हैं। हाँ, यह बात सच है कि एक अभिभावक या शिक्षक के रूप में यदि हम बच्चे के साथ खेलते हैं या उन्हें खेलते हुए उनका अवलोकन करते हैं, तो हम उनके बारे में बहुत कुछ जान सकते हैं। बच्चों के शारीरिक विकास और क्षमता, भावनात्मक स्थिति सामाजिक कौशल, भाषाई क्षमता, सृजनशीलता रूचियाँ आत्म विश्वास और उनका परिवेश इत्यादि। यह इसलिए क्योंकि खेल के दौरान वे सहज और स्वभाविक व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं।

बच्चों के संज्ञानात्मक विकास में खेल का महत्वः

बच्चे जिज्ञासु और खोजी होते हैं और चुनौतियाँ पसंद करते हैं। खेल के दौरान वे आसपास के वातावरण की छानबीन करते हैं और मन में उठते हुए सवालों का जवाब ढूँढते हैं और स्वयं सीखते रहते हैं। बच्चों को अपनी रुचि के अनुसार क्रियाएँ चुनने के अवसर दिए जाएँ तो, वे ऐसे खेल चुनते हैं, जो चुनौतीपूर्ण हों। इस तरह वह उन बातों को सीखते है जिन्हें सीखने के लिए वे तैयार होते हैं। सीखने की प्रक्रिया बोझिल न होकर आनंददायी बन जाती है।

खेल क्रियाओं के माध्यम से वे आम घटनाओं के घटित होने के कारण भी समझने लगते हैं। इस तथ्य को हम एक उदाहरण लेकर समझें जो यह दर्शाती है कि किस प्रकार साढे तीन वर्षीय सौम्या ने खेल के दौरान कुछ वस्तुओं की प्रकृति के बारे में अपनी समझ बनायी।

सौम्या एक दिन मेले में गई। वहाँ पर साबुन के पानी से बनने वाले बुलबुलों को देख आकर्षित हुई। वहीं से साबुन के तरल घोल की एक शीशी खरीद लाई। घर आकर उसने बुलबुले बनाना शुरू किए। बुलबुले फूटकर फर्श पर गिरते रहे। अचानक उसने कदम बढ़ाया और वह गिर पड़ी। माँ ने जब पूछा कि क्या हुआ तो बोली कि फर्श चिकना था, इसलिए गिर गई। माँ ने फिर पूछा कि फर्श चिकना कैसे हुआ? तो बोली साबुन के बुलबुलों से। और फिर जोड़ा, "मैं अब सड़क पर खेलूँगी, वहाँ नहीं गिरूँगी।"

इस उदाहरण में सौम्या को साबुन के बारे कुछ पूर्व ज्ञान था कि वह चिकना होता है, क्योंकि नहाते वक्त उसने बुलबुले बनते और शरीर पर मलते हुए यह अहसास किया था। उसे यह भी ज्ञान था कि घर का फर्श चिकना होता है और मिट्टी खुरदुरी। चूँकी वह स्वयं गिर गई अतः उसे यह समझ में आया कि यदि चिकने फर्श पर साबुन का पानी गिरता है, तो फिसल सकते हैं और खुरदुरे फर्श पर नहीं। वह निष्कर्ष पर कैसे पहुँची होगी? हम यह अंदाजा लगा सकते हैं कि सौम्या जब पानी के साथ खेलती होगी या रोजमर्रा के जीवन में उसने यह अवलोकन किया होगा कि चिकनी सतहों पर पानी गिरता है, तो उसे पोंछना पड़ता है, परंतु मिट्टी में पानी डालने पर जमीन के भीतर चला जाता है। इस तरह बच्चे अपने पूर्व ज्ञान को वर्तमान से जोड़ कर विभेद करना, सामान्यीकरण करना और नए ज्ञान का सृजन करना सीख जाते हैं।

कल्पनाशीलता एवं सृजनात्मकता के विकास में खेल का महत्व

खेल में बच्चे कल्पना द्वारा अलग–अलग भूमिकाएँ निभाते हैं। ऐसा करते हुए उनका व्यवहार, विचार और भावनाएँ उसी व्यक्ति के अनुसार होती हैं, जिनकी वह भूमिका कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, बच्चे टीचर–टीचर खेलते हुए हाथ में छड़ी लेकर ब्लैक बोर्ड के सामने खड़े होने की नकल करते हैं। उनके अनुभव के अनुसार वे या तो प्यार करने वाली या दंड देने वाली एक शिक्षक या शिक्षिका बन जाते हैं। खेल में बच्चे वास्तविकता से हटकर बहुत कुछ सृजनात्मक करते हैं। जैसे एक कुर्सी तीन वर्षीय बच्चे के लिए गाड़ी बन जाती है या फिर माचिस के डिब्बों की पंक्ति रेलगाड़ी बन जाती है, जो उसे नानी के घर ले जाती है।

नाटकीय खेलों में छोटे बच्चे आमतौर पर अपने माता–पिता द्वारा किए कामों या टी.वी. में देखे गए उनकी प्रिय चरित्र की नकल करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि खेल यथार्थ ही दर्शाए। खेल कल्पना शक्ति को विकसित करता है और यह बच्चों को दैनिक स्थितियों से जूझने में मदद करता है।

निम्नांकित उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि बच्चे स्वयं भी कल्पनाशीलता एवं सृजनात्मकता के गुणों से पूर्ण होते हैं, यदि अध्यापक उनका सहयोग करें, जैसेः–

एक दिन मैं चौथी कक्षा में नारियल ले गया और नारियल दिखाते हुए बच्चों से पूछा कि क्या उन्होंने नारियल का पेड़ देखा है। एक बच्चे ने कहा कि उसने पेड़ को समुद्र किनारे देखा है और दूसरे बच्चे ने कहा उसने एक बगीचे में देखा था और साथ–ही बोला, ''बहुत ऊँचा होता है सर, खजूर के पेड़ जैसा''। फिर मैंने पूछा,

''आप नारियल से क्या करते हो?'' कई जवाब आए, ''मंदिर में चढ़ाते हैं, प्रसाद खाते हैं, चटनी बनाते हैं, बीमार होने पर पानी भी पिलाते हैं''।

''नारियल के खोल और भूसे से क्या करते हैं?'' एक ने कहा, ''सर मेरे बाबा भूसी को जला कर शहद मिला कर उल्टी होने पर चटाते हैं''। तपाक से एक बच्चा बोला, ''मेरी माँ तो आग जलाती है''। फिर मैंने अपने झोले से कई नारियल निकाले और उनसे गिरी निकालाने के लिए कहा। बच्चों ने अपने–अपने तरीके से नारियल तोड़ा। फिर मैंने उन्हे भूसी और खोल से खिलौना बनाने को कहा। मैंने रंग, गोंद, धागा, मोम इत्यादि की व्यवस्था कर रखी थी। बच्चों को समूह में बाँटा और सामग्री भी बच्चों की मदद से बाँट दी। कुछ बच्चों ने भूसी को बांधकर मछली, घोसला, पंखी, इत्यादि बनाए तो कुछ ने नारियल की खोल पर रंग करके उससे गमला, मुखौटा और चिड़िया इत्यादि बनाये। पर कुछ बच्चे तो कुछ नहीं कर पा रहे थे, तो मैंने उनसे कहा कि वे भूसी को काग़ज पर चिपकाकर रंग कर सकते हैं। तब तुरंत उन बच्चों ने कागज पर तितली, गुड़िया का चित्र बनाया और उसे भूसी पर चिपका कर रंग कर दिया। सभी ने एक–दूसरे को अपनी चीज़ें बताकर कक्षा–कक्ष को साफ कर दिया।

भाषायी विकास में खेल का महत्व

बच्चों की भाषा के विकास के लिए भाषा को सुन पाना और बोल पाना आवश्यक है। खेल के दौरान बच्चे चौकोर, गोल, सीधी और वक्र रेखा जैसी विभिन्न आकृतियों को भी समझने लगते हैं, जो बाद में उन्हें अक्षरों को पहचानने में मदद करते हैं। खेलते हुए बच्चे यह देखते हैं कि काला और लाल, वृत्त या छोटा और बड़ा वृत्त सभी गोलाकार हैं। इससे उन्हें समझने में मदद मिलेगी कि 'क' अक्षर 'क' ही रहता है चाहे वह शब्द के शुरू में हो या अंत में। खेल में वह पहले और बाद, बाएँ और दाएँ, ऊपर और नीचे जैसी संकल्पनाओं का अर्थ सीखते हैं, जो लिखना और पढ़ना सीखने के लिए अति आवश्यक है। खेल क्रियात्मक विकास में सहायक होते हैं, जो लिखना सीखने के लिए आवश्यक होता है। हम जानते हैं कि बच्चे सहजता से वही सीखते हैं जिनमें उनकी रुचि होती है। यह बात लिखना और पढ़ना सीखने के लिए भी सत्य है। कहानियाँ सुनने से बच्चों में स्वयं उन्हें पढ़ने के लिए

इच्छा जागृत होगी और वह पढ़ने और लिखने के लिए प्रेरित होंगे। अगर बच्चे को लिखना नहीं आता और उस पर लिखने के लिए दबाव डाला जाता है, तो उसे परेशानी होती है। लिखना सीखने की प्रक्रिया को यदि खेल बना दिया जाए, जिसमें बच्चे जमीन पर लिखे हुए 'क' पर छोटे–छोटे पत्थर रखें, उसकी रूपरेखा पर चलें या 'क' अक्षर के बिन्दुओं को जोड़ कर 'क' लिखें तो वे धीरे–धीरे 'क' की रूपरेखा से परिचित हो जाते हैं। इस प्रकार उसे मज़ा भी आएगा और वह बिना दबाव के लिखना सीख जाएँगे।

काल्पनिक खेलों के दौरान या वस्तुओं के खेल खेलते हुए बच्चे अपने आप से या वयस्कों से बातें करते हैं। जैसे–जैसे वे अन्य नियमबद्ध खेल खेलने लगते हैं, वे खेल के दौरान चर्चा, बहस आदि करते रहते हैं। खेल–खेल में बच्चे बोलना सीख जाते हैं। कोई बच्चा डरता है, बोल ही नहीं पाता, कोई बहुत जल्दी बेचैन और क्रोधित हो जाता है, तो कोई बच्चा समस्या समाधान में बहुत अच्छा होता है। हर बच्चे की सुनने, बोलने, पढ़ने के स्तर अलग–अलग होते हैं। खेल के माध्यम से अलग–अ लग बच्चों के भाषायी कौशल का स्तर जान सकते हैं। उसके अनुसार खेल व खेल गतिविधियों की योजना बना सकते हैं जिससे बच्चों को सीखने में मदद मिले।

अभिभावकों एवं शिक्षकों की भूमिका

बच्चे अकेले भी खेलते हैं, अपने हम उम्र बच्चों के साथ और अपने से बड़े या छोटे बच्चों के साथ भी खेलते हैं। रिश्ते खेल का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। अपने बचपन के अनुभवों को एक बार फिर से याद करिए। क्या आपको वे बच्चे याद हैं जिनके साथ आप खेला करते थे? जब आप खेलते थे, तो वयस्क क्या करते थे। क्या वह कहीं दूर से हम पर नज़र रखते थे और हम उस उन्मुक्त वातावरण में रहकर खेल में मग्न हो जाया करते थे? हमने देखा कि खेल बच्चों की विभिन्न क्षमताओं को किस तरह पोषित करते हैं। इनको पोषित करने में अभिभावकों, शिक्षक व शिक्षिकाओं तथा विद्यालय की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। आइये इन पर कुछ विस्तार से चर्चा करें।

बच्चों को विभिन्न प्रकार के खेलों के लिए अभिप्रेरित करें

- हम बच्चे की अर्जित क्षमताओं, समझ और कौशलों को तराशकर उन्हें विकसित कर एक यथेष्ट स्तर पर पहुँचाने की कोशिश कर सकते हैं। इसके लिए ज़रूरी है कि शिक्षक बच्चों की ज़रूरतों और परिवेश को समझें। कभी तो बच्चों को मुक्त खेल खेलने के लिए समय दें और कभी स्वयं संरचित खेल आयोजित करें, जो कक्षा/घर के अंदर भी हो सकता है और बाहर भी। आप विषय वस्तु को समझने के लिए खेलों को जोड़कर गतिविधियों का आयोजन कर सकते हैं।
- यदि आप ग्रामीण इलाके में काम करते हैं तो बच्चों को संभवतः शारीरिक खेल खेलने के भरपूर मौके मिलते हैं। आपको देखना होगा कि बच्चों को किस तरह के खेल की आवश्यकता है। उसके आधार पर आप हर रोज कुछ संरचित खेलों का आयोजन करें और कुछ समय मुक्त ओजस्वी खेल। यदि आप शहर में रहते हैं, जहाँ संभवतः बच्चों को जगह के अभाव से स्फूर्ति भरे खेल खेलने के कम अवसर मिलते होंगे, तो आपको इनके आयोजन के अवसर तलाशने होंगे। माध्यमिक शाला में कई बार लड़कियाँ मैदानी

खेल खेलने में संकोच करती हैं। कई विद्यालय भी इस पर गौर नहीं करते और बच्चियाँ असहाय महसूस करती हैं। आपको उन पर विशेष ध्यान देना होगा। आप सुनिश्चित करें कि खेल के कालांश लगें और उसका उपयोग अन्य कामों के लिए न किया जाए। बच्चों की गतिविधियों जैसे – काग़ज काटना, चिपकाना, मिट्टी से खेलना जैसे मुक्त खेलों को बढ़ावा दें।

- स्थानीय परिवेश के अनुरूप पारम्परिक खेलों को समझें एवं उन्हें प्रोत्साहित करें।
- विद्यालय की यह भूमिका है कि वह खेलों के ऐसे समृद्ध संसाधनों को उपलब्ध कराएँ, ताकि बच्चों में खेलों के प्रति रुचि बढ़े और वे भिन्न–भिन्न प्रकार के खेलों को खेल सकें। प्रकृति व परिवेश से उपलब्ध सामग्री इकट्ठी करें और उन्हें खेल में उपयोग करें। बच्चों को कक्षा में भी व्यवस्थित स्थान दिया जाए ताकि शिक्षक को विषयपरक खेल व गतिविधियों के आयोजन में आसानी हो।
- शिक्षक और अभिभावक बच्चों को कई तरह से सहयोग कर सकते हैं – खेल के सवाल उठाकर, समस्या समाधान में, नयी विषयवस्तु पर खेल खेलने के लिए प्रेरित करके और अवांछित व्यवहार को रोक कर।
- कुछ बच्चों की शारीरिक व मानसिक आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं। अतः वे सामान्य खेलों में रूचि नहीं लेते हैं। शिक्षक उनकी अतिरिक्त मदद कर उनके खेलों में रूचि विकसित कर सकते हैं। जैसे, एकाकी बच्चे, संकोची बच्चे, संवेगात्मक रूप से अस्थिर बच्चे, शारीरिक रूप से कमजोर बच्चे, विरोधी प्रवृति वाले बच्चे, अति सक्रिय बच्चे, विध्वंसात्मक / उग्र / आक्रामक प्रवृति के बच्चे, धीमी गति से सीखने वाले बच्चे इत्यादि।
- शिक्षक सप्ताह में एक या दो बार बच्चों को विभिन्न विषयों पर नाटकीय खेल खेलने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। इनके लिए कई विषय जैसे, पंचायत, अस्पताल का दृश्य, हाट का दृश्य, इत्यादि चुन सकते हैं, जिससे कि बच्चों में मौखिक अभिव्यक्ति के साथ–साथ समस्या समाधान, प्रश्न–कौशल एवं सामाजिक–अनुक्रिया को बढ़ावा मिले।

अभिभावकों को खेल का महत्व समझाएँ

कई बार अभिभावकों को लगता है कि बच्चे विद्यालय में खेलते रहते हैं और कुछ नहीं सीखते हैं। विशेषतया जबकि कोई शिक्षक खेल के माध्यम से बच्चों को सिखाना चाहते हैं। अतः ऐसे में शिक्षक अभिभावकों को खेल का महत्व और उसमें शिक्षक और अभिभावक की भूमिका के प्रति जागरुक कर सकते हैं।

खेल के प्रति सकारात्मक सोच रखें

- आपको खेल के प्रति अपनी सोच बदलने की आवश्यकता है। बच्चों को पानी, मिट्टी, रेत इत्यादि से खेलना अच्छा लगता है। उन्हें कई तरह की चीज़ इकट्ठा करने का शौक होता है जैसे, रंग–बिरंगे कागज, पत्थर, सीपियाँ इत्यादि। हम उन पर बेवजह रोक–टोक करते हैं – कपड़े मैले हो जाएँगे, हाथ–पैर में मिट्टी लग जाएगी, कक्षा या घर अव्यवस्थित दिखेगा, ठंड लग जाएगी, इत्यादि। उनके द्वारा एकत्रित चीज़ों को व्यवस्थित रखने या सृजनात्मक रूप से उपयोग करने के लिए उत्साहित करें।

- लिंग, जाति, वर्ग, संस्कृति से जुड़ी रूढ़िवादी सोच से ऊपर उठकर बच्चों को वैकल्पिक सोच के प्रति प्रेरित करने के प्रयास करें।

भाषायी और भावात्मक विकास हेतु गतिविधियों का आयोजन करें

- इसके लिए बच्चों को कहानियाँ व वार्ताएँ सुनाने को प्रेरित करें और फिर उन पर नाटक करवाएँ।
- स्थानीय खेल–गीत एकत्रित करके उन्हें कक्षा में उपयोग करें।
- बच्चों को अपने अनुभव, सवाल, जिज्ञासा बाँटने के कम मौके मिलते हैं। अतः या तो रोज कुछ समय के लिए या सप्ताह में एक बार गपशप के लिए समय रखें।
- खेल के दौरान बच्चों की उभरी भावनाओं को समझकर पुनः शाब्दिक रूप से व्यक्त करें।

संज्ञानात्मक विकास में सहयोग

यह तथ्य कि 'बच्चे स्वयं करने से ही सीखते हैं' का अर्थ यह नहीं कि वयस्कों की उसमें कोई भूमिका ही नहीं है। वयस्क बच्चों को उनकी खोज समझने में मदद कर सकते हैं, उन्हे खोज के लिए अवसर प्रदान कर सकते हैं और ऐसी गतिविधियों का आयोजन कर सकते हैं जो बच्चों की रुचि और संज्ञानात्मक स्तर के अनुसार हो। ऐसा करने से बच्चे कुछ नया सीख सकते हैं। इस प्रकार बच्चों को खेल के माध्यम से कई अवधारणाओं और कौशलों का विकास करने में मदद कर सकते हैं, जैसे – रंग, आकार, अंक, मौसम, विभिन्न प्रकार के पक्षियों और पौधों, छोटी, लंबी और ठिगनी, हल्की और भारी जैसी संकल्पनाओं से भी परिचित होने में मदद कर सकते हैं। उनसे विभिन्न प्रकार की पहेलियाँ भी बूझने को दें जैसे चित्र पहेली, वर्ग पहेली, गणितीय पहेली, माचिस की तीलियों की पहेलियाँ इत्यादि।

बच्चे के सामाजिक विकास में सहयोग

- अध्यापक सामाजिकता में अहम भूमिका निभा सकते हैं। वे अवलोकन करते हैं कि कौन–से बच्चे खेल रहे हैं, कौन–से बच्चे अकेले खेल रहे हैं, कौन–से बच्चे केवल दूसरों को खेलता हुए देख रहे हैं। अध्यापक स्वयं उस सीखने के क्षण में बच्चे की व्यक्तिगत आवश्यकता को समझ कर सामाजिक कौशलों को विकसित करने में मदद कर सकते हैं। अध्यापक ही बच्चों के समूह के बीच संप्रेषण के अधिक–से–अधिक अवसर प्रदान कर सामाजिक कौशल को विकसित कर सकते हैं।

- बच्चों को सहकारी खेल खेलने के लिए प्रेरित करें। खेल बच्चों को करीब लाने का और समाजीकरण का अच्छा माध्यम है। परंतु, यदि आप प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देते है, एक–दूसरे के प्रति क्रोध और हिंसा को स्वीकार करते हैं, बेइमानी और तरफदारी करते हैं, तो बच्चों में दूरी बढ़ती है। हार–जीत वाले खेल के बजाए ऐसे खेल खेलाएँ जिनमें आपसी सहयोग और आनंद हो।

समेकन

प्रस्तुत इकाई में खेल से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गई है, जैसे, खेल की समझ, विशेषताएं, प्रकार, विभिन्न आयु एवं संदर्भों में खेल, खेल का महत्व एवं बच्चों के विकास में अभिभावकों एवं शिक्षकों की भूमिका।

खेल बच्चे के लिये सबसे आनन्ददायी सुखद क्रिया होती है। यह न केवल बच्चे के लिये अपितु भावी समाज के निर्माण में भी सहयोगी होता है। खेल से ही बच्चे सहयोग, समूह निर्माण, निर्णय लेना, नियम–निर्माण, अभिव्यक्ति, स्वानुशासन, चुनौतियों को स्वीकार करना जैसे कौशलों का विकास अपने अन्दर कर पाते हैं।

हमने यह भी देखा कि अलग–अलग प्रकार के खेल बच्चों के संज्ञानात्मक, शारीरिक एवं क्रियात्मक, भाषायी, सामाजिक एवं भावनात्मक विकास के हर क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। खेल, बच्चों के सम्पूर्ण एवं संतुलित विकास का अहम साधन है।

खेल एवं उसकी प्रकृति समय के साथ बदल गई है, फिर भी प्रत्येक खेल बच्चे के सर्वांगीण विकास में महत्व रखता है। इसी संदर्भ में शिक्षक एवं अभिभावकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में शिक्षक एवं अभिभावकों के सतत् प्रयास एवं भागीदारी से बच्चों में खेल भावना को विकसित किया जा सकता है।

मूल्यांकन

1. खेल के बारे में विभिन्न आवधारणा कौन–कौन से हैं? संक्षेप में लिखें।
2. खेल से आप क्या समझते हैं? बच्चों के विकास के संदर्भ में खेल के महत्व की विस्तार से चर्चा करें।
3. सीखने सिखाने के माध्यम के रूप में खेलों का क्या महत्व है? खेल की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
4. बच्चों के संज्ञानात्मक विकास में खेल के महत्व की विस्तार से चर्चा करें। खेल के विविध प्रकारों का वर्णन करें। क्या खेल सृजनात्मकता एवं कल्पनाशीलता के विकास में मदद करते है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दें।
5. बच्चों के एक अन्त:क्रिया का एक ऐसा उदाहरण दीजिए, जिससे पता चलता है कि खेल स्वप्रेरित व स्वनिर्देशित होता है।
6. एक शिक्षक के रूप में आप किस प्रकार बच्चों को सामूहिक खेलों के प्रति प्रेरित करेंगे।

प्रदत्त कार्य

1. अलग–अलग वर्गों के 5 अभिभावकों के साथ चर्चा कर खेल के बारे में निम्नलिखित बिन्दुओं पर उनके विचार जानें और लिखेंः–
   - i. क्या आप अपने बच्चों के साथ खेलते हैं?
   - ii. क्या माता–पिता को अपने बच्चों के साथ खेलना चाहिए?
   - iii. खेलने से क्या लाभ हैं?
   - iv. आप बच्चों को खेलने के लिए कितना समय देते हैं? इत्यादि।
2. बच्चों को खेल खिलाएँ और उसकी डायरी लिखें। आपने क्या खेल खिलाया? बच्चों को खेल के दौरान किस तरह का व्यवहार किया? किस बच्चे ने नेतृत्व की पहल की? नियमों का पालन कैसे किया गया? इत्यादि। खेल खेलवाते हुए बच्चों की फोटो भी लगाएँ।
3. बच्चों में आत्मविश्वास एवं स्वनियंत्रण के गुण विकसित करने के लिए आप किस तरह के बाहरी खेलों का आयोजन करेंगे? सम्पूर्ण आयोजन का विस्तृत प्रतिवेदन तैयार करें।

फोटो साभार – इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई 5

बच्चे और व्यक्तित्व विकास

परिचय

प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष गुण या विशेषताएं होती हे जो दूसरे व्यक्ति में समान रूप से नहीं होती है। इन्हीं गुणों एवं विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होता है। व्यक्ति के इन गुणों का समुच्चय ही व्यक्ति का व्यक्तित्व कहलाता है।

पिछले कुछ ईकाइयों में हमलोगों ने बच्चे के विकास के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास किया है। बच्चे के विकास में विभिन्न संज्ञानात्क, सामाजिक, संवेगात्मक, शारीरिक, भाषागत एवं नैतिक पक्ष होते हैं। हर पहलू एक दूसरे से जुड़ा होता है, जिससे बच्चे का व्यक्तित्व निर्मित होता है। बच्चे के व्यक्तित्व विकास में सामाजिकता, संवेग, नैतिकता इत्यादि का गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः बच्चों के विकास को सकारात्मक दिशा देने के लिए हर प्रशिक्षु को व्यक्तित्व विकास के विविध आयामों को समझना जरूरी है, जिससे हर व्यक्ति को गुजरना पड़ता है। इस अध्याय में बच्चे और उनके व्यक्तित्व विकास के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास किया गया है।

प्रायः आपने स्वयं को कुछ परिस्थितियों में दूसरों से भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया एवं व्यवहार को करते पाया होगा। इसी प्रकार से जब हम ऐसे प्रश्न पूछते हैं कि क्यों लोग भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं? कैसे वे घटनाओं का अलग–अलग अर्थ निकालते हैं और कैसे समान

परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार से अनुभव करते हैं तथा प्रतिक्रिया देते हैं? तब व्यक्तित्व की अवधारणा सक्रिय हो जाती है।

व्यक्तित्व शब्द प्रायः हमारे दिनचर्या अथवा बातचीत में उपस्थित रहता है। व्यक्तित्व का शाब्दिक अर्थ लैटिन शब्द **परसोना** (persona) से लिया गया है। परसोना उस मुखौटे को कहते हैं जिससे अपनी मुख रूप – सज्जा को बदलने के लिए रोमन नाटकों में अभिनेता उपयोग में लाते थे। जिस मुखौटे को अभिनेता अपनाता था उसी के अनुरूप दर्शक उससे एक विशिष्ट भूमिका के निष्पादन की प्रत्याशा करते थे।

एक सामान्य जन के लिए व्यक्तित्व का तात्पर्य सामान्य व्यक्ति के शारीरिक एवं वाह्य रूप से होता है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति सुंदर दिखाई देता है, तो हम यह मान लेते हैं कि वह व्यक्ति सौम्य व्यक्तित्व वाला है। व्यक्तित्व की यह अवधारणा सत्य ही प्रभावांकनों पर आधारित होती है, जो सही नहीं है ।

मनोवैज्ञानिकों के शब्दों में व्यक्तित्व से तात्पर्य उन विशिष्ट तरीकों से है, जिसके द्वारा व्यक्तियों और स्थितियों के प्रति अनुक्रिया की जाती है। कुछ सूचक शब्दों जैसे शर्मिला, संवेदनशील, शांत, गंभीर, स्फूर्ति इत्यादि शब्दों का उपयोग प्रायः व्यक्तित्व के विभिन्न घटकों को इंगित करते हैं। अतः व्यक्तित्व से तात्पर्य उन अन्य एवं सापेक्ष रूप से अस्थिर गुणों से है, जो एक समयावधि में विभिन्न स्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार को विशिष्टता प्रदान करते हैं। विभिन्न परिस्थितियों तथा समय पर किसी व्यक्ति के व्यवहार चिंतन और संवेग में संगति उसके व्यक्तित्व की विशेषता होती है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति ईमानदार है, तो कोई भी परिस्थिति या किसी भी समय पर वह ईमानदार बना रहेगा।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व की अनेक परिभाषाएँ दी हैं –

वुडवर्थ	:	व्यक्ति के व्यवहार की एक समग्र विशेषता ही व्यक्तित्व है।
गिलफोर्ड	:	व्यक्तित्व गुणों का समन्वित रूप है।
आलपोर्ट	:	व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर उन मनोशारीरिक तंत्रों का गतिशील या गत्यात्मक संगठन है, जो वातावरण में उसके अपूर्व समायोजन को निर्धारित करते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व शारीरिक, मानसिक, भावात्मक व बौद्धिक सभी गुणों का एक समन्वित स्वरूप है।

व्यक्तित्व विकास के विविध आयाम

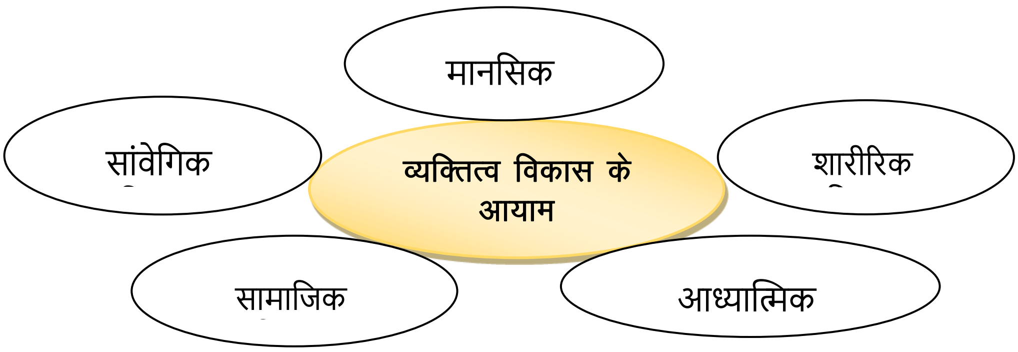

व्यक्तित्व का विकास जिन–जिन दिशाओं में होता है उसे व्यक्तित्व का आयाम कहते हैं।

1. **शारीरिक आयाम** – शारीरिक विकास हर बच्चे में अलग–अलग मात्रा में होता है। जो शारीरिक ग्रंथियों पर निर्भर करता है। उसकी ऊंचाई, लंबाई, स्वास्थ्य, भार, आकृति, मुखाकृति की विविधता बच्चे के व्यक्तित्व को अलग–अलग अद्वितीय रूप में व्यक्त करती हैं।

2. **मानसिक आयाम**– वंशानुक्रम और पर्यावरण से जो योग्यताएं प्राप्त होती है, उसका मानसिक विकास पर अलग ही प्रभाव दिखाई देता है। वस्तुतः यह बच्चे के मानसिक शक्ति और उसकी योग्यता से संबद्ध है।

3. **सामाजिक आयाम** – सामाजिकता के आधार पर ही बच्चों में दयालुता, सहिष्णुता, निर्दयता, कोमलता, कठोरता इत्यादि गुणों का विकास होता है। कार्यपरायणता, मित्र व्यवहारिता, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि जैसे आवश्यक सामाजिक गुण सभी बच्चों में अलग–अलग होते हैं।

4. **संवेगात्मक आयाम** – सभी व्यक्तियों में अनेकों प्रकार के संवेग होते हैं, लेकिन उनकी तीव्रता अलग–अलग होती है। यह सामाजिक संबंधों जैविक संरचनाओं, अनुभवों से प्रभावित होता है।

5. **आध्यात्मिक आयाम** – बच्चों के आत्म और उसके मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता बच्चों में अलग–अलग होती है। बच्चे यह सोचते हैं कि मैं कौन हूँ? मैं क्यों आया हूँ? मेरा काम क्या है? जिस परिवेश में मैं अभी हूँ, यह क्यों है? ऐसा सोचने की प्रवृत्ति सभी बच्चों में अलग–अलग होती है। यह संपूर्ण आध्यात्मिक प्रक्रिया बच्चे की चेतनता है। वस्तुतः अपनी निहित शक्तियों का विकास एक बात है, किंतु आत्मबोध, आत्मज्ञान, आत्म–साक्षात्कार, आत्मानुभूति का संबंध जन्मजात परंपरा से अंतिम बिंदु सत्–चित्–आनंद की प्राप्ति है। आत्मा के ज्ञान के तीन मार्ग हैं – ज्ञान योग, भक्ति योग तथा कर्म योग। यह तीनों मार्ग क्रमशः मस्तिष्क के तीनों पक्षों संज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा मनोगत्यात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही भारत की अतिप्राचीन दार्शनिकता का आधार है।

टैगोर के अनुसार मनुष्य अपने शरीर में आत्मा की खोज करता है और प्रकृति के बीच एक नाद को एकत्व का अनुभव करता है।

गांधी के अनुसार व्यक्तित्व का विकास मनुष्य द्वारा सत्य और अहिंसा की खोज करते समय स्वतः ही होता है। यह आत्याग तथा अनासक्ति कर्म द्वारा ही संभव है। यह स्थितप्रज्ञ की स्थिति है।

अरविंदो के अनुसार व्यक्तित्व का विकास योग द्वारा संभव है। मनुष्य जन्मजात शरीर का विकास परम मस्तिष्क की स्थिति कर सकता है यही सच्चिदानंद (सत–चित–आनंद) की स्थिति है।

वस्तुतः व्यक्तित्व भिन्न–भिन्न शील गुणों का एक ऐसा गत्यात्मक संगठन है, जिसके कारण व्यक्ति का व्यवहार तथा विचार किसी भी वातावरण में अपने ढंग का अर्थात्, अपूर्व होता है ऑलपोर्ट के शब्दों में ''व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर मनो–शारीरिक तंत्रों का गतिशील या गत्यात्मक संगठन है, जो वातावरण में उसके अपूर्व समायोजन को निर्धारित करता है।''

व्यक्तित्व के निर्धारक (Determinants of Personality)

व्यक्तित्व को प्रभावित करने में कुछ विशेष तत्वों का हाथ रहता है, जिन्हें हम व्यक्तित्व के निर्धारक कहते हैं। यही तत्व मिलकर व्यक्तित्व को पूर्ण बनाने में सहयोग देते हैं। इन्हीं तत्वों के अनुरूप व्यक्तित्व का विकास होता है।

कुछ विद्वानों ने व्यक्तित्व के निर्धारण में जैविक (biological) आधार को प्रमुखता दी है, कुछ ने पर्यावरण संबंधी आधार को प्रधानता दी, परन्तु व्यक्तित्व के विकास में इन दोनों निर्धारकों का हाथ होता है–

व्यक्तित्व विकास			
	जैविक निर्धारक		**पर्यावरण सम्बन्धी निर्धारक**
1	शारीरिक संरचना तथा शारीरिक स्वास्थ्य	1	सामाजिक निर्धारक
2	शरीर रसायन एवं अंतःस्त्रावी ग्रंथिया (body chemistry & endocrine glands)	2	सांस्कृतिक निर्धारक
		3	आर्थिक निर्धारक

जैविक निर्धारक

(क) **शारीरिक संरचना** – व्यक्ति का बाहरी स्वरूप व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव डालता है – जैसे एक आकर्षक व्यक्तित्व रखने वाले व्यक्ति अपने आस–पास के लोगों में आकर्षण का केन्द्र होता है। एक प्रतिभासम्पन्न विभिन्न गुणों से युक्त छोटे कद के दुबले–पतले व्यक्ति को (जिसकी शारीरिक संरचना/बनावट आकर्षक न होने के कारण) अनदेखी की जाती है।

इसी तरह आकर्षक बच्चे परिवार के सदस्यों के बीच, विद्यालय में अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के बीच अधिक लोकप्रिय होते हैं। उन्हें अधिक अनुमोदित किया जाता है। यह अनुमोदन बच्चे के आत्म–प्रत्यय पर सकारात्मक प्रभाव डालता है।

(ख) **शरीर रसायन एवं अंतःस्रावी ग्रंथिया** – हमारा नाड़ी तंत्र ग्रन्थियाँ, रक्त, रसायन इत्यादि हमारे व्यवहार के तरीकों एवं विशेषताओं को बहुत धीमा या अधिक प्रभावित करती हैं, जिसका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। अंतःस्रावी ग्रंथियां, पीयूष ग्रंथि, एडरीनल ग्रंथि, थायराइड ग्रंथि, पारा–थायराइड ग्रंथि, पैंक्रियाज, यौन ग्रंथि एवं स्नायु–मंडल इत्यादि।

अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ सीधे रक्त धारा में जटिल रासायनिक पदार्थ का स्राव करती हैं जिन्हें हारमोन्स कहा जाता है। हारमोन्स की समुचित मात्रा व्यक्ति के व्यक्तित्व को

प्रभावी बनाती है। लेकिन इसकी अधिकता या कमी प्रायः व्यक्ति के व्यवहार में प्रभावशाली परिवर्तन लाते हैं।

पीयूष ग्रंथि (मास्टर ग्रंथि) पूरे शरीर के विकास को निर्धारित करती है। पीयुष ग्रंथि से निकलने वाले हारमोन्स (वृद्धि हारमोन्स) की अधिकता से शरीर का आकार बड़ा तथा बेडौल हो जाता है तथा इस ग्रंथि की अल्प सक्रियता व्यक्ति की शारीरिक वृद्धि को अवरूद्ध करता है। अतः व्यक्ति कायर, संकोची व झगड़ालू प्रवृत्ति का हो जाता है।

पर्यावरण सम्बन्धी निर्धारक

(क) **सामाजिक निर्धारक –** सामाजिक कारकों में निम्न को सम्मिलित किया जाता है –

माता तथा पिता, परिवार के सदस्यों का आपसी सम्बन्ध, जन्मक्रम, स्कूली प्रभाव, आस–पड़ोस इत्यादि। बच्चे के जन्म के बाद उसके समाजीकरण में सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण भूमिका परिवार की होती है। छोटे बच्चे परिवार के वरिष्ठ सदस्यों के साथ तादात्मीकरण एवं अनुकरण करके अपना अलग अस्तित्व बनाने का प्रयास करते हैं।

बालक माता–पिता के अलावा परिवार के अन्य सदस्यों से अन्तः क्रिया करता है। यदि माता–पिता के अलावा परिवार के अन्य सदस्य बालक के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं तो निश्चित रूप से बालक के शीलगुणों में धनात्मक वृद्धि होती है। बालक परिवार में रहकर उचित–अनुचित, नैतिक–अनैतिक आदि मान्यताओं को सीख लेता है, जो उसके व्यक्तित्व विकास को निर्धारित करते हैं।

(ख) **सांस्कृतिक कारक –** संस्कृतियाँ व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करती है। संस्कृति एक व्यापक शब्द है, जिसका अर्थ समाज के रीति–रिवाज, आदतें, परम्पराओं, रहन–सहन, तौर–तरीके इत्यादि होता है। प्रत्येक समाज की एक विशेष संस्कृति होती है, जो व्यक्ति को किसी–न–किसी रूप से प्रभावित करती है।

क्रच, क्रचफिल्ड तथा बैलेशी (1962) के अनुसार ''सांस्कृतिक वातावरण में भिन्नता के कारण लोगों के आचार विचार में भी भिन्नता आती है। जिस संस्कृति की जैसी मान्यता तथा विचारधारा होगी, उसमें पोषित लोगों में उसी प्रकार की गुणों का विकास होगा।''

व्यक्तित्व संस्कृति का दर्पण होता है। सांस्कृतिक मान्यताओं का ही परिणाम है कि समाज के कुछ व्यक्ति अधिक धर्मान्ध, शांत और विनम्र होते हैं, जबकि कुछ समाज के सदस्य ईर्ष्यालु एवं आक्रामक होते हैं।

(ग) **आर्थिक निर्धारक –** आर्थिक स्थिति का अच्छा, संतोषजनक, खराब होना बच्चे के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। बच्चों में हीनता का भाव सांवेगिक, अस्थिरता, शर्मिला, सामाजिक अगुवाई, आत्मविश्वास, नेतृत्व इत्यादि आर्थिक कारकों से बच्चे के व्यक्तित्व प्रभावित होते हैं।

व्यक्तित्व के प्रकार

1. **शारीरिक गुणों के आधार पर** (क्रेशमर):–

(क) पिकनिक (Pyknik):- छोटा कद, गर्दन छोटी–मोटी खुशमिजाज समाजिक खाने–पीने में प्रवीण उत्साह विषाद की संभावना।

(ख) एस्थेनिक (Aesthenic):- लंबा, दुबला, पतला, विकसित मांसपेशी, उम्र के अनुसार वजन कम, चिड़चिड़ा, दिवास्वप्न, मनोविदलता की संभावना।

(ग) एथलेटिक (Athletic):- मांसपेशी मजबूत विकसित शरीर सुडौल मध्यम स्वभाव बदलती परिस्थिति के अनुसार समायोजनशील।

(घ) डिस्प्लास्टिक :- उपरोक्त तीनों प्रकार के गुणों का मिलाजुला स्वरूप।

2. **शरीर गठन के आधार पर** (शेल्डन, 1940):–

(क) एंडोमोर्फ (Endomorph):- आराम पसंद, खुशमिजाज, सामाजिक, खाने–पीने में अभिरुचि। सेल्डन ने इसे भिसरोटोनिया कहा।

(ख) मेसोमोर्फ (Mesomorph):- हड्डी मांसपेशी काफी विकसित, शरीर सुडौल, जोखिम से खेलना, बहादुर, तीव्र प्रवृत्ति, आक्रामक। इसे उन्होंने सोमैटोटोनिया कहा।

(ग) एकटोमोर्फ (Ectomorph):- दुबले–पतले, अविकसित मांसपेशियां, एकांत प्रिय, संकोची, लज्जालु। शेल्डन ने इसे सरिब्रोटोनिया कहा।

3. **मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर** (युंग, आइजेंक गिलफोर्ड):–

(क) बहिर्मुखी (Extrovert):- सामाजिक कार्य में अभिरुचि, खुशमिजाज, आशावादी, खाने–पीने में रुचि।

(ख) अंतर्मुखी (Introvert):- मिलना जुलना कम पसंद, सीमित मित्रता, आत्म केंद्रित, रूढ़िवादी रीति–रिवाजों को मानने वाले।

4. **प्रकार सिद्धांत** (ऑलपोर्ट):–

(क) व्यक्तित्व का शीलगुण सिद्धांतः– व्यक्तित्व मापन से व्यक्तित्व विकास तथा उसके स्वरूप से संबंधित बहुत से ज्ञान प्राप्त होते हैं, जिससे यह पता चलता है कि किसी व्यक्ति में शीलगुण की कमी से व्यक्ति को समायोजन में दिक्कतें हो रही हैं। उन कठिनाइयों को दूर करने में हम किस प्रकार शैक्षिक योजनाओं का निर्माण करें कि उनके व्यक्तित्व को समायोजित किया जा सके। व्यक्तित्व मापन की प्रमुख विधियां निम्नलिखित है :–

- व्यक्तित्व आविष्कारिका (Personality inventory) - यह पेपर पेंसिल टेस्ट के नाम से जाना जाता है। यह काफी प्रचलित विधि है, जिसमें कुछ प्रश्न हाँ /नहीं वाले बने होते हैं। उसके आधार पर हम बच्चे/ व्यक्ति के व्यक्तित्व का परीक्षण करते हैं। प्रमुख आविष्कारिका यथा – MMPIA1, MMPIA2 बेल समायोजन आविष्कारिका (1934) कैटेल 16 व्यक्तित्व कारक प्रश्नावली प्रमुख है।
- प्रक्षेपण विधियाँ (Projective methods) - इस विधि में बच्चे व्यक्ति के व्यक्तित्व का परीक्षण अप्रत्यक्ष रूप से होता है उनके सामने कुछ अस्पष्ट और असंगठित

उद्दीपक परिस्थितियां उत्पन्न की जाती हैं। उसके प्रति उनकी अनुक्रिया के सहारे व्यक्तित्व के बारे में पता लगाया जाता है इसके चार प्रकार हैं:–

i. शब्द साहचर्य (Word Association test) - युंग (1904)

ii. रोशार्क परीक्षण (Rorschach test) - हरमन रोर्शा (1921)

iii. विषय आत्म बोध परीक्षण (Thematic apperception test) - मरे मोरगन (1935)

iv. वाक्य पूर्ति परीक्षण (Sentence completion test) - रोहडे हाइड्रेथ (1940)

- प्रेक्षण विधियां (Observation methods) - इस व्यक्तित्व के मापन की विधि में बच्चे की क्रियाओं का ध्यानपूर्वक प्रेक्षण एक नियंत्रित एवं वास्तविक परिस्थितियों में किया जाता है फिर उसको लेखा–जोखा का विश्लेषण कर एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचता है। इस प्रकार के परीक्षण की विधियां हैं–

i. रेटिंग मापनी (Rating scale) - मापनी के सहारे व्यक्ति के शीलगुण का निर्णय संख्यात्मक +3, +2, +1, –1, – 2, –3 इत्यादि के रूप में करते हैं, जिसका अर्थ होता है। जिसका सांख्यिकी विश्लेषण कर निश्चित निष्कर्ष निकाले जाते हैं। प्रमुख रेटिंग मापनी – गिलफोर्ड (1959), फ्रीमैन (1962) द्वारा दिए गए।

ii. साक्षात्कार विधि (Interview method) - यह सर्वाधिक प्रयुक्त प्रेक्षण विधि है जो संगठित या असंगठित साक्षात्कार के रूप में हो सकते हैं।

सामाजिकता का विकास

हम सभी जानते हैं कि जब कोई शिशु जन्म लेता है, तो उसमें न तो समाजिकता और न ही असमाजिकता का भाव पाया जाता है। उसकी प्रत्येक दिन की आवश्यकताएँ अन्य व्यक्तियों के द्वारा पूरी की जाती है। अतः वह शीघ्र ही सामाजिक परिवेश से प्रभावित होने लगता है, अर्थात्, सामाजिक विकास से हमारा अभिप्राय अपने साथ और अन्यों के साथ सामंजस्य बिठाने की बढ़ती हुई योग्यता से है। बालक में शारीरिक, सांवेगिक, बौद्धिक विकास के साथ–साथ सामाजिक विकास भी होता है। सामाजिक विकास के द्वारा ही वह अपने परिवेश में सामंजस्य स्थापित करता है।

बच्चों में सामाजिक विकास के प्रथम लक्षण उस समय प्रकट होते हैं, जब वह वस्तुओं और व्यक्तियों में अंतर करने लगता है। सर्वप्रथम बच्चे का सामाजिक संपर्क वयस्कों के साथ जुड़ने से होता है। जैसे–जैसे वे बड़े होते हैं, उत्तर बाल्यावस्था में प्रवेश करते हैं और विद्यालय जाना शुरू कर देते हैं, उनका सामाजिक दायरा भी विस्तृत होता चला जाता है, जिसे सामाजिक विकास की संज्ञा देते हैं। इस अवस्था में बच्चों में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार के सामाजिक गुणों का प्रभाव देखा जा सकता है।

हम देखते हैं कि उत्तर बाल्यावस्था में बच्चे अपने माता–पिता तथा अन्य बड़ों की छत्रछाया से अपने आपको मुक्त कर स्वतंत्र रूप से अपने आयु के बालकों के साथ खेलना चाहते हैं।

इस उम्र में वे किसी–न–किसी समूह/दल के सक्रिय सदस्य बन जाते हैं। उनके लिए उस समूह/दल का आदर्श एवं मान्यताएँ बहुत ही प्रिय होती हैं तथा उसमें एक गौरवपूर्ण स्थान बनाना चाहते हैं। इस अवस्था में बालक और बालिकाओं में एक–दूसरे से अलग–अलग रहने की प्रवृति पायी जाती है। दोनों–ही अपने अलग–अलग समूह बनाकर खेलना–कूदना पसन्द करते हैं। इन दोनों की आदतें, अभिरूचियाँ अलग–अलग होती हैं। इस अवस्था के अन्त में अपने समूह/दल के प्रति उनमें अन्धभक्ति पैदा हो जाती है, जिस वजह से वे अपने माता–पिता और गुरूजनों के साथ संघर्षरत दिखलाई पड़ते हैं, यानि उनकी बातों को न मानकर मनमानी करना चाहते हैं।

बच्चे का सामाजिक विकास उसके सामाजिक संदर्भ पर निर्भर होता है, जिसमें उसके माता–पिता, छोटे बच्चे, समवर्गी, पड़ोसी, शिक्षक, रिश्तेदार इत्यादि सभी सम्मिलित होते हैं। इसमें उनकी मनोवृति के साथ उनकी अर्जित कुशलता, मूल्य और तरीके शामिल हैं जिनके द्वारा वह समाज में समायोजन करता है। सामाजिक विकास के माध्यम से बच्चा दूसरों के दृष्टिकोण, स्वभाव, सोच, सहयोग, अपनी बारी की प्रतीक्षा करना, अन्य लोगों और वस्तुओं का सम्मान करना आदि गुणों को सीखता है।

उत्तर बाल्यावस्था में बालक अपने से बड़ों के पास रहना चाहते हैं, ताकि उनके द्वारा किए कार्यों का अनुमोदन प्राप्त कर सकें। इस अवस्था में बालकों के व्यवहार में स्थिरता नहीं पायी जाती है। एक तरफ वे शिक्षक के प्रति बहुत विनम्र होते हैं, तो दूसरी तरफ उन्हें तंग भी करना चाहते हैं।

साधारणतः हम सामाजिक विकास का अभिप्राय बालकों–बालिकाओं का किसी अन्य से अन्योन्यक्रिया करते हुए संबंध विकसित करना जानते हैं। घर पर पिछले अनुभव द्वारा और अपने इर्द–गिर्द की वस्तुओं को खोजने में विकसित विकास और स्वावलम्बन बच्चों के सामाजिकता को प्रभावित करते हैं। हमें ऐसा लगता है कि उत्तर बाल्यावस्था में सामाजिक विकास बच्चों के सामाजिक संदर्भ पर निर्भर करता है, जिसमें उनके माता–पिता, छोटे बच्चे, समवर्गी, पड़ोसी, रिश्तेदार इत्यादि सम्मिलित होते हैं। इस अवस्था में बच्चे सामाजिक विकास के माध्यम से अन्य को और उनके दृष्टिकोण को आत्मसात करते हैं। समूह में कार्य करना भी स्वीकार करते हैं। इस अवस्था में वे किसी के प्रति श्रद्धा रखने लगते हैं। वे किसी–न–किसी समुदाय के सदस्य होना चाहते हैं। वे उस समुदाय के नियमों और अनुशासन का पालन करते हैं। इस अवस्था में बालकों को यदि निर्देशन नहीं दिया गया तो उनमें इधर–उधर घूमने, बात नहीं मानने, जोर–जोर से चीखने–चिल्लाने, दोस्तों को मारने की आदत विकसित हो जाती है।

मनोसामाजिक सिद्धांत : एरिक एरिक्सन

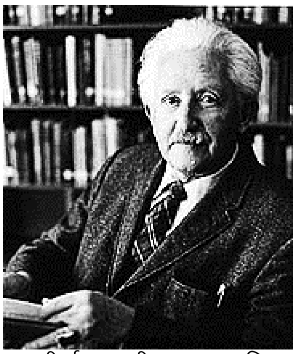

एरिक एरिकसन (1930–1994) एक अमेरिकी विकास मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषण थे। इनका जन्म जर्मनी में हुआ था । वह अपने मनोसामाजिक विकास सिद्धांत के लिए जाने जाते हैं। अहम मनोविज्ञान के सूत्र धारों में से एरिक्सन एक माने जाते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक एरिक्सन ने मनोवैज्ञानिक विकास के अपने सिद्धांत में व्यक्ति के सामाजिक विकास का मार्ग भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार व्यक्ति को जन्म के बाद आठ मनोवैज्ञानिक अवस्था से गुजरना पड़ता है। प्रत्येक अवस्था में लक्ष्य, समस्या और उपलब्धियों के साथ विकासात्मक संकट का सामना करना पड़ता है। बालकों को प्रत्येक अवस्था में सकारात्मक विकास एवं संभावित अस्वस्थ विकल्प के बीच संघर्ष का सामना करना पड़ता है, जिनका स्वस्थ विकास के लिए समाधान करना आवश्यक है। संघर्ष अन्य सदस्यों से अंतःक्रिया एवं सामाजिक, सांस्कृतिक शक्तियों के कारण उत्पन्न होता है।

एरिक्सन द्वारा उल्लिखित आठ अवस्थाएँ हैंः –

अवस्था संख्या	अवस्था के ध्रुव	उम्र	फ्रायड स्टेज	संबंधित प्रश्न	अर्जित अहम् कौशल
1	विश्वास बनाम अविश्वास (Trust Versus Mistrust)	शैशवावस्था	मुखावस्था (Oral Stage)	क्या मैं दुनिया पर भरोसा कर सकता हूँ? क्या मैं खुद पर भरोसा कर सकता हूँ?	आशा (Hope)
2	स्वतंत्रता बनाम लज्जा (Autonomy versus Shame and Doubt)	प्रारंभिक बाल्यावस्था	गुदावस्था (Anal Stage)	क्या मैं जैसा हूँ वह ठीक है?	इच्छा शक्ति (Will)
3	पहल बनाम अपराधबोध (Initiative Versus Guilt)	मध्य बाल्यावस्था	लिंगीयवस्था (Phallic Stage)	क्या मैं जो कर रहा हूँ वह ठीक है?	उद्देश्य (Purpose)
4	परिश्रम बनाम हीनता (Industry Versus Inferiority)	उत्तर बाल्यावस्था	गुप्तावस्था (Latency)	क्या मैं इस दुनिया में अपनी जगह बना सकती हूँ?	सामर्थ्यता (Competence)
5	पहचान बनाम पहचान भ्रम (Identity Versus Role confusion)	किशोरावस्था	जनन अवस्था / यौनावस्था (Genital Stage)	मैं कौन हूँ, क्या बन सकती हूँ?	निष्ठा / विश्वास (Loyalty)
6	घनिष्ठता बनाम अलगाव (Intimacy Versus Isolation)	नवयौवन	कोई नहीं	क्या मैं किसी की साथी बन सकती हूँ?	प्रेम (Love)
7	उत्पादकता बनाम	प्रौढ़ावस्था	कोई नहीं	क्या मैं अपने	देखभाल

	ठहराव (Generativity Versus Stagnation)			अनुभवों, शिक्षण से समाज में योगदान दे सकती हूँ?	(Caring)
8	संपूर्णता बनाम निराशा (Ego Integrity Versus Despair)	वृद्धावस्था	कोई नहीं	मेरे जीवनकाल की उपलब्धियाँ क्या रहीं? क्या मेरा जीना सफल रहा?	प्रज्ञा (Wisdom)

आइए निम्नलिखित आठ अवस्थाओं पर विस्तृत रूप से चर्चा करते हैं। क्योंकि ये अवस्थायें व्यक्ति के सामाजिक विकास को समझने में हमारी मदद करता है।

अवस्था 01 – विश्वास बनाम अविश्वास (शैश्वावस्था):– यह एरिक्सन के मनोसामाजिक सिद्धांत की पहली अवस्था है। इसमें उन्होंने कहा है कि जिन बच्चों के अपने माता–पिता तथा अन्य से देखरेख करने वाले व्यक्तियों से उचित स्नेह, प्यार, देखभाल इत्यादि मिलता है, उनमें विश्वास का भाव विकसित होता है। दूसरी ओर जिन बच्चों को माता–पिता तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा रोते–बिलखते तथा चिल्लाते छोड़ दिया जाता है, उनमें दूसरों के प्रति अविश्वास का भाव विकसित हो जाता है। जिससे दूसरों से अनावश्यक डर भी उत्पन्न हो जाता है।

अवस्था 02 – स्वतंत्रता बनाम लज्जा (प्रारम्भिक बाल्यावस्था):– यह अवस्था स्वतंत्रता के विकास से संबंधित है। बढ़े हुए पेशीय समन्वय एवं मूत्राशय के विकास और आंत्र–नियंत्रण से बच्चे में विश्वास और स्वतंत्रता की भावना विकसित होती हैं, अर्थात्, स्वंय कार्य करने की भावना, जैसे – अपने दाँतों पर ब्रश करना, स्नान करना, विद्यालय के लिए स्वंय तैयार होना इत्यादि। लेकिन यदि माता–पिता बच्चे से बहुत अपेक्षा रखते हैं कि वह जल्दी या देर से काम करता है, उनपर खास एहतियात रखते हैं, तो बच्चे में अपने ऊपर संदेह या लज्जा की भावना विकसित हो सकती है। समस्या यह है कि ये अनसुलझे टकराव, बाद की ये अवस्थायें प्रौढ़ावस्था तक बनी रहती हैं। प्रायः वैसे बच्चे जिन्हें बचपन में लगातार लज्जित किया जाता रहा है, उनमें ऐसी भावनाओं का समावेश काफी बाद की अवस्थाओं तक देखा गया है।

अवस्था 03 – पहल बनाम अपराध (मध्य बाल्यावस्था):– पहल का संबंध कार्य की समझ, योजना और निष्पादन की गुणवत्ता से है। शारीरिक, गत्यात्मक और संज्ञानात्मक विकास के कारण बच्चे विश्व और अपनी प्राप्त क्षमताओं के बारे में जानने के लिए उत्सुक होते हैं। 4 एवं 5 वर्ष के बच्चों के लिए यह सामान्य नहीं है कि वे निरंतर भिन्न–भिन्न कार्य करने में संलग्न रहें। यह आवश्यक है कि बच्चे गलती करते हों, माता–पिता को साम्य परन्तु उनके प्रति दृढ़ रहना चाहिए। यदि माता–पिता या शिक्षक बच्चों को निरूत्साहित करते हैं और उनका उपहास करते हैं, तो बच्चों में अपराध बोध की भावना विकसित होती है। इसके अलावा, दोषबोध और मतभेद बच्चे की योग्यता को प्रभावित करते हैं और विद्यालय तथा घर में विभिन्न गतिविधियों में उनकी सहभागिता को प्रभावित करते हैं।

अवस्था 04 – परिश्रम बनाम हीनता (उत्तर बाल्यावस्था):– इस अवस्था में बच्चे से बहुत से हुनर सीखने की आशा की जाती है और वे जानते हैं कि उनके प्रयोग करने से उन्हे बड़ों से मान्यता मिल सकती है। जब उन्हें काम करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और

जब उनके प्रयासों के लिए उनकी प्रशंसा की जाती है, तो वे अपना परिश्रम प्रदर्शित करते हैं, जैसे – परिश्रम से कार्य करने का पैटर्न एवं किए गए कार्य से संतुष्टि की प्राप्ति। यदि बच्चा प्रत्याशित निपुणता प्राप्त नहीं कर सकता है या बड़ों की आशाएँ पूरी करने में असमर्थ रहता है, तो वह हीनभावना विकसित कर लेता है। बच्चा यह अनुभव करने लगता है कि वह जो कुछ भी करते हैं, सदा गलत ही होगा।

अवस्था 05 – **पहचान बनाम पहचान–भ्रम (किशोरावस्था):–** इस अवस्था में बच्चे को अपने आपको समझना और परिभाषित करना आवश्यक होता है। यह उनकी पहचान से संबंधित है – वे कौन और क्या हैं? पिछली अवस्था में प्राप्त अधिगम और क्षमता अधिकतर बच्चे को अपना पहचान बनाते है। इसमें सांस्कृतिक और व्यक्तिगत पहचान भी शामिल है। समुदाय के सदस्य के रूप में एवं व्यक्ति के रूप में पहचान भी शामिल है। इस अवस्था के दौरान बालक वयस्क विश्व में अपनी संभावित भूमिका के बारे में सोचता है। मैं कौन हूँ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए वह संघर्षरत रहता है। इस अवस्था में यह ज्ञात करना एक सामान्य बात है कि बच्चे भिन्न–भिन्न समूहों या टोलियों के सदस्य हो जाते हैं। उनका मुख्य मनोवैज्ञानिक कार्य पहचान प्राप्त करना है।

अवस्था 06 – घनिष्ठता बनाम अलगाव (नव यौवन):– यह आरंभिक वयस्कावस्था की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति दूसरों के साथ घनात्मक संबंध स्थापित करता है। जब व्यक्ति में दूसरों के साथ घनिष्ठता का भाव विकसित होता है, तो वह अपने आप को दूसरों के लिए समर्पित कर देता है। जो व्यक्ति दूसरों के साथ इस ढ़ंग की घनिष्ठता नहीं विकसित कर पाते है, वे सामाजिक रूप से अलग (Socially Isolate) हो जाते हैं। इस अवस्था का प्रमुख संकट घनिष्ठता बनाम अलगाव का संघर्ष है।

अवस्था 07 :– उत्पादकता बनाम ठहराव (प्रौढ़ावस्था):– उत्पादकता से तार्त्पय अगली पीढ़ी में कुछ घनात्मक चीजों को अंतरित करने से है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति द्वारा अगली पीढ़ी के लोगों के कल्याण तथा उस समाज के लिए जिसमें वे लोग रहेंगे, को उन्नत बनाने की चिन्ता से होता है। शिक्षक जो अपने विद्यार्थियों एवं उनके शिक्षा–दीक्षा के बारे में सचमुच चिंता दिखलाते हैं, वे उत्पादकता के उदाहरण है। अब व्यक्ति में उत्पादकता की चिंता उत्पन्न नहीं होती है, तो इससे उनमें ठहराव उत्पन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति में यह भाव उत्पन्न होता है कि वो अपनी आनेवाली पीढ़ियों के लिए कुछ भी नहीं कर सके।

अवस्था 08 – संपूर्णता बनाम निराशा (वृद्वावस्था):– इरिक्सन के मनोसामाजिक विकास की यह अंतिम अवस्था है जो वृद्वावस्था से आरम्भ होकर मृत्यु तक की अवधि सम्मिलित होती है। इस अवस्था में व्यक्ति का ध्यान भविष्य से हटकर अपने बीते दिनों पर विशेषकर उसमें प्राप्त सफलता और असफलता की ओर अधिक होता है। अगर व्यक्ति अपने पिछले समय का मूल्यांकन घनात्मक रूप में करता है और यह अनुभव करता है कि उसके जीवन की सफलताओं का प्रतिशत उसकी असफलता के प्रतिशत से अधिक है, तो उसमें सम्पूर्णता का भाव विकसित होता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति अपने पिछले दिनों में प्राप्त उपलब्धियों का मूल्यांकन नकारात्मक रूप में करता है, तो उसमें निराशा का भाव उत्पन्न होता है।

बच्चों में भावात्मक/संवेगात्मक विकास के पहलू:

एक नवजात शिशु के रोने तथा एक 7 साल के बच्चे के रोने में क्या अंतर है? क्या एक 7 साल का बच्चा तथा 13 साल का बच्चा समान परिस्थिति में समान व्यवहार प्रदर्शित करेगा?

यह सभी व्यवहार तथा भावनाएँ संवेग का हिस्सा है, जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न हो सकती है या फिर उम्र के अनुसार उनमें विभिन्नता हो सकती है। मुख्य रूप से विभिन्न संवेगों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है, सकारात्मक संवेग तथा नकारात्मक संवेग। हंसी, खुशी, ऊर्जा तथा प्रेम की अनुभूति को सकारात्मक संवेग माना जाता है तथा नकारात्मक संवेग के अन्तर्गत झिझक, गुस्सा, पछतावा तथा उदासी इत्यादि भावनाएं होती हैं।

संवेग सिर्फ सामाजिक संबंधों, जैविक संरचनाओं तथा अनुभवों इत्यादि से प्रभावित होते हैं। उदाहरणस्वरूप जो बच्चे जन्म से ही दृष्टिहीन होते हैं और जिन्होंने कभी किसी की मुस्कुराहट का अवलोकन नहीं किया तब भी वह लगभग समान रूपों में ही इस संवेग को प्रदर्शित करते हैं।

शोधकर्ताओं ने पाया है कि मूलभूत संवेगों जैसे– गुस्सा, डर, हँसना, रोना, आश्चर्य इत्यादि के दौरान चेहरे पर दिखने वाले भाव अधिकतर समान ही होते हैं। संवेगात्मक बदलावों को समझने से पहले हम संवेगों की समझ बनाने के लिए उभरे सैद्धांतिक पक्षों से परिचित हो लें।

संवेगात्मक विकास के सिद्धान्त

संवेग से तात्पर्य एक ऐसी आत्मनिष्ठ भाव की अवस्था से होता है जिसमें कुछ शारीरिक उत्तेजना पैदा होती है और फिर जिसमें कुछ खास–खास व्यवहार होते हैं। वस्तुतः संवेगात्मक विकास का जुड़ाव सामाजिक अव्यवों से जुड़ी होती है। अतः यहाँ इन सिद्धांतों की बच्चों पर प्रभाव्यता और प्रभावित करने वाले कारकों को समझना एक प्रशिक्षु के लिए आवश्यक है। बच्चों की सामाजिक सांवेगिक विकास के सिद्धांतों को समझने के आधार को जानना आवश्यक है।

संवेगात्मक विकास को समझने के लिए तीन सैद्धांतिक आधार रहे हैं–

1. **व्यवहारवादी सिद्धांत (Behaviouristic Theory) –** व्यवहारवाद सीखने की प्रक्रिया में सबसे ज्यादा अहमियत देता है बच्चों को उनके द्वारा की गई क्रियाओं पर मिलने वाली प्रतिक्रियाओं को। इन प्रतिक्रियाओं के आधार पर बच्चे अपने व्यवहार को बदलते चलते हैं। संवेगात्मक विकास को भी व्यवहारवाद में सीखी हुई अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया है। प्रमुख और शुरूआती व्यवहारवादी वॉट्सन का मानना था कि बच्चे तीन प्रकार के संवेग लेकर पैदा होते हैं –

    i. **डर** – खासतौर पर ऊँची आवाज़ से।

    ii. **आक्रोश** – शारीरिक बंधन से।

    iii. **प्रेम** – विशेष रूप से स्नेहमय स्पर्श से।

इन संवेगों के अलावा सभी संवेग और अभिव्यक्तियाँ बच्चे अन्य लोगों को देखकर सीखते हैं और खुद के द्वारा अभिव्यक्त संवेगों पर मिलने वाली प्रतिक्रिया के अनुसार उसकी उपयुक्तता और पुनरावृत्ति तय करते हैं।

2. **संज्ञानात्मक सिद्धांत (Cognitive Theory)** – यह सिद्धांत नये उत्तेजक (अभूतपर्व घटना या अपरिचित व्यक्ति से साक्षात्कार) से होने वाली तनावपूर्ण प्रतिक्रियाओं को समझाती हैं। इस सिद्धांत के अनुसार यदि नये अनुभव और मौजूदा स्कीम में सामान्य–सा अन्तर है तो उससे बच्ची रूचि, आनन्द जैसे सकारात्मक भाव प्रदर्शित करेगी। पर अगर यह अंतर ज्यादा हो तो वे तनाव या भय जैसे नकारात्मक भाव होंगे। इससे हमें समझ में आता है कि क्यों बच्चे नया खिलौना देखते ही पुराना खिलौना छोड़ देते हैं और यह भी कि क्यों वे हमेशा अपने आसपास 'नई' खोज करने में रूचि दिखाते हैं।

3. **प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य (Functionalist Theory):**

   इस परिप्रेक्ष्य में संवेगों को मानव विकास में केन्द्रीय बल के रूप में देखा गया है, जो सीखने, शारीरिक विकास, सामाजिक व्यवहार जैसे सभी आयामों को प्रभावित करते हैं। उदाहरणस्वरूप संवेग संज्ञानात्मक प्रक्रिया को कैसे प्रभावित करते हैं – डेढ़ साल की इति जब सीढ़ियों के पास पहुँचती है, मम्मी चिल्ला पड़ती है और वो चौंककर रुक जाती हैं। ऐसे ही उसकी खोजती उंगलियाँ बिजली के सॉकेट के आसपास पहुँची और माँ की आवाज़ आई। इन स्थितियों में इति का सहम जाने का संवेग यह समझने में अहम है कि यह दोनों खतरे की स्थितियाँ है।

आगे हम देखेंगे कि नवजात शिशु अवस्था से किशोर अवस्था की शुरूआत तक कौन–कौन से संवेगात्मक बदलाव आते है।

सवेंगात्मक विकास के विभिन्न चरण एवं प्रक्रिया (नवजात शिशु से किशोरावस्था)

संवेगों में प्रारंभिक विकासात्मक बदलाव

मुख्य रूप से संवेग को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है।

1. **प्राथमिक संवेग**– जो मानव और पशुओं दोनों में पाए जाते हैं। इनके अंतर्गत आश्चर्य, खुशी, रूचि, गुस्सा, दुख और भय आते हैं। ये सभी भावनाएं जीवन के प्रथम 6 महीनों में उपस्थित होती हैं।
2. **स्व–चेतना आधारित संवेग** – उसमें संज्ञान की विशेष तौर पर चेतना की जरूरत है। इसके अंतर्गत सहानुभूति, ईर्ष्या और शर्मिंदगी आते हैं जो डेढ़ से दो वर्ष की आयु में (कांशसनेस की उपज के बाद) नजर आते हैं और गर्व, शर्म, ग्लानि, जो ढाई वर्ष की आयु में पहली बार नजर आते हैं। इनके विकसित होने पर बच्चे सामाजिक मापदण्डों और नियमों को ग्रहण करते है और इन्हें अपने व्यवहार का मूल्यांकन करने में प्रयोग कर पाते हैं।

प्रारंभिक संवेग	

4 मास	खुशी, दुख, चिढ़
2 से 6 मास	गुस्सा
प्रारंभिक 6 मास	आश्चर्य

स्व–चेतना आधारित संवेग	
6 माह से 2 वर्ष	ईर्ष्या, शर्मिंदगी, सहानुभूति
2 वर्ष	गर्व, शर्म, अपराधबोध, ग्लानि

नवजात शिशु केवल प्रारंभिक संवेगों का अनुभव कर पाते है, व उनके संवेगात्मक हाव–भाव उन्हें अपने शुरूआती रिश्ते बनाने में मदद करते है। न केवल माता–पिता अपने बच्चों की संवेगात्मक हाव–भाव की प्रतिक्रिया से अपने संवेगात्मक हाव–भाव बदलते हैं, बल्कि नवजात शिशु भी अपने माता–पिता की अभिव्यक्ति के उत्तर में अपने संवेग बदल लेते हैं।

रोना और हँसना ऐसी दो संवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो नवजात शिशु अपने माता–पिता से सम्पर्क बनाते हुए दिखाता है और ये नवजात शिशु के संवेगात्मक वार्तालाप के पहले प्रकार हैं।

1. **रोना** – यह नवजात शिशु के लिए प्रारम्भिक सम्प्रेषण का माध्यम है। बच्चे के रोने की पहली आवाज से यह पता चलता है कि उसके फेफड़ों में हवा भर गई है। बच्चे के रोने को तीन प्रकार से विभाजित किया जा सकता है – भूख में रोना, गुस्से में रोना, दर्द या तकलीफ़ में रोना।

   अब प्रश्न यह उठता है कि क्या रोते हुए बच्चे की तरफ ध्यान आकर्षित करना चाहिए और उसे चुप करवाना चाहिए और क्या यह नवजात शिशु को बिगाड़ता है?

   बहुत समय पहले व्यवहारवादी जॉन वॉटसन् ने यह कहा था कि माता–पिता अपने रोते हुए बच्चों की तरफ ध्यान देने में बहुत समय गुज़ारते हैं। उसका नतीजा यह होता है कि माता–पिता बच्चे के रोने को पुरस्कृत करते हैं, जिससे शिशु की रोने की घटनाओं को बढ़ावा मिलता है। दूसरी तरफ मेरी ऐन्सवर्थ (1979) और जॉन बॉल्बी (1989) इस बात पर जोर देते हैं कि शिशु के पहले वर्ष में आप उसके रोने पर जरूरत से ज्यादा ध्यान देने की बात सोच ही नहीं सकते। वे मानते हैं कि इस समय बच्चे के रोने को तुरन्त शाँत करने और उसे दुलारने, दिलासा देने की बहुत जरूरत है, क्योंकि इसी से शिशु और उसकी देख–भाल करने वाले के बीच एक मज़बूत संबंध बनता है और शिशु में एक विश्वास की भावना विकसित होती है और वह देखभाल करने वाले से जुड़ा हुआ महसूस करता है।

2. **हंसना** – यह एक और महत्त्वपूर्ण तरीका है, जिससे बच्चा अपने हाव–भाव प्रस्तुत कर सकता है। शिशु की मुस्कान को दो वर्गों में रखा गया है।

   (क) **सजग मुस्कान (Reflexive Smile)** – वह मुस्कान जो बाह्य उद्दीपन की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नहीं होती और जन्म के कुछ महीनों बाद तक दिखती है, अधिकतर नींद के दौरान।

(ख) **सामाजिक मुस्कान (Social Smile) –** वह मुस्कान जो बाह्य उद्दीपन की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होती है। यह 2–3 मास तक उत्पन्न नहीं होती।

3. **भय (Fear)–** भय बच्चों के प्रारंभिक संवेगों में से एक है जो 6 माह की आयु में अभिव्यक्त होना शुरू होता है जैसे, अनजान व्यक्ति का भय। 9 महीने की आयु में अंजान व्यक्तियों का भय और भी गहरा जाता है और 1 साल की आयु तक बढ़ता ही जाता है। ऐसा जरूरी नहीं है कि हर नवजात शिशु एक अनजान व्यक्ति से तनाव महसूस करे। यह व्यक्तिगत भिन्नता के अलावा सामाजिक संदर्भ और अनजान व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। नवजात शिशु स्ट्रेन्जर एन्जाइटी (Stranger Anxiety) कम दिखाएगा अगर वह परिचित, वातावरण में है या माँ की गोद में संरक्षित है या शुरू से खूब नए लोगों से मिलता रहा है। स्ट्रेन्जर एन्जाइटी के अलावा नवजात शिशु में अपनी देखभाल करने वाले से बिछड़ने का भी डर होता है। उसका नतीजा होता है, बिछड़ने के विरोध में रोना। पालनकर्ता से अलग होने का विरोध हर संस्कृति में अलग–अलग होता है, पर सभी जगह यह संवेग 13 से 15 महीने की आयु में सबसे चरम पर पहुंच जाता है।

सामाजिक संदर्भ से जन्मे संवेग

शिशु न केवल अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं, बल्कि दूसरे व्यक्तियों के हाव–भाव को भी पढ़ सकते हैं। इसमें चेहरे के भावों को पढ़ना शामिल है, जो उन्हें यह जानने में मदद करते है कि किसी विशेष स्थिति में कैसे व्यवहार करना है। सामाजिक संदर्भ को जानने की क्षमता का विकास नवजात् शिशु को समस्याओं/परिस्थितियों के बारे में बेहतर समझ बनाने में मदद करता है। जब भी वे किसी अनजान व्यक्ति का सामना करते हैं, तो यह कुशलता उन्हें यह जानने में मदद करती है कि क्या उससे डरना ज़रूरी है। नवजात शिशु अपने जीवन के दूसरे साल में सामाजिक संदर्भ को भापने लगते हैं। इस आयु में बच्चे व्यवहार करने से पहले अपनी माता को देखकर स्थिति की जांच करते हैं। एक अध्ययन में पाया गया कि 6 से 9 महीने के शिशुओं की तुलना में 14 से 22 महीने के शिशु अपने सामाजिक संदर्भ की जानकारी प्राप्त करने के लिए अपनी माँ के चेहरे को ज्यादा देखते हैं।

माता–पिता, शिक्षक और अन्य वयस्क बच्चों को संवेगों को समझने और नियंत्रित करने में मदद करते हैं। वे बच्चों से तनाव, दुख, गुस्सा और ग्लानि से उबरने के बारे में बातचीत कर सकते है। उन्हें दूसरों की भावनाओं को समझने के लिए भी प्रेरित किया जा सकता है। किसी बच्चे के सफल सामूहिक संबंधों में संवेगों की अहम भूमिका होती है। नकारात्मक संवेग वाले बच्चों को अपने दोस्तों से ज्यादा अस्वीकृति का अनुभव होता है, जबकि सकारात्मक संवेग वाले बच्चे ज्यादा लोकप्रिय होते हैं। संवेगों को नियमन कर पाने की क्षमता अपने दोस्तों के साथ संबंध बनाने का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। एक अध्ययन में यह पाया गया है कि भावनाओं का आत्म नियमन सामाजिक दक्षता को बढ़ाता है।

विचारणीय बिंदु

1) वयस्क बच्चों के कौन–से संवेगों को समझने और नियंत्रित करने में मदद कर सकते है?
2) शिक्षक बच्चों के संवेगों को समझने और नियंत्रित करने किस तरह से मदद कर

सकते है?

अभी तक हमने बच्चे के संज्ञानात्मक विकास के महत्त्वपूर्ण पहलूओं पर विस्तार से बात की है अब इसे और बेहतर रूप से समझने के लिए 'लगाव' नामक संवेग के विकास की प्रक्रिया को यहाँ विस्तार से जानेंगे।

लगाव (Attachment)

हैरी हार्लो (1905 –1981) – हार्लो एक अमेरिकी मनोवैज्ञानिक थे, जिन्होंने सामाजिक अलगाव पर रिसस बंदरों पर महत्त्वपूर्ण प्रयोग कर पालनकर्ता से बच्चों की अलगाव, लगाव को सांवेगिक विकास के आईने में समझने का प्रयास किया ।

लगाव एक प्रकार का भावनात्मक संबंध है जो दो व्यक्तियों को आपस में बांधता है। यह संबंध समय और दूरी के बावजूद बना रहता है। लगाव की भावना तब और प्रबल होती जाती है जब अभिभावक शिशु की क्रियाओं पर प्रतिक्रियाएँ देते हैं तथा उसे सहज महसूस करवाते हैं, तब जब शिशु को उनकी आवश्यकता पड़ती है, खासकर तब जब वह बीमार हो, घायल हो या फिर संवेगात्मक रूप से दुखी हो।

लगाव शिशु के संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। यदि शिशु की आवश्यकताओं की पूर्ति सही समय पर होती है, तो वह विश्वास करना सीख लेता है और सुरक्षित तथा मूल्यवान महसूस करने लगता है। जैसे–जैसे शिशु का दूसरों से लगाव प्रबल होने लगता है। वैसे–वैसे शिशु अधिक आत्मविश्वासी भी होने लगता है।

जीवन की दूसरी छमाही में शिशु परिचित व्यक्तियों से जुड़ाव को महसूस करने लगते हैं, उन सभी व्यक्तियों से जो उनकी आवश्यकताओं की तरफ प्रतिक्रिया करते हैं तथा उनकी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास करते है।

विचारणीय बिंदु

- सुरक्षा का भाव दुर्बल होने से या न होने से शिशु के स्वयं के बोध पर क्या प्रभाव पड़ सकता है?

1950 के दशक में हैरी हार्लो द्वारा रीसस बन्दरों पर एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया गया। जन्म से ही ये बन्दर अपनी माताओं से जुदा कर दिए गए थे। उनके सामने दो विकल्प दिए जाते : पहले – तार और जाल से बना कंकाल जिसके हाथों में दूध की बोतल रहती। दूसरा – एक गुदगुदी मुलायम रूई से बनी बड़ी गुड़िया। यह पाया गया कि बावजूद इसके कि वे पोषण के लिए तार वाले कंकाल के पास जाएं, बच्चे अपना ज़्यादातर वक़्त रूई की गुड़िया के साथ चिपककर बिताते। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि 'लगाव' आहार मिलने पर आधारित नहीं होता। हालांकि पोषण, खासतौर पर स्तनपान का समय बाल–विकास के लिए अत्यधिक महत्व रखता है, परन्तु 'लगाव' का सिद्धांत मनोसामाजिक स्तर पर भी क्रियाशील होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि माँ, या माँ के स्थान पर

किसी भी पालनकर्ता से बच्चे का लगाव सिर्फ मूल–भौतिक ज़रूरतों को पूरा करने से कहीं ज़्यादा मायने रखता है।

इसके अलावा दो और बातें जो शोध और आत्म अवलोकन से सामने आई पर जिन्हें व्यवहारवादी विकास सिद्धान्त समझा नहीं पाया, वे हैं :–

- 'लगाव' की वस्तु या व्यक्ति की अनुपस्थिति में भी 'लगाव' के भाव में कमी नहीं आती। उस व्यक्ति/वस्तु के विकल्प को उतने ही भाव से स्वीकार करना अत्यंत ही मुश्किल होता है।
- 'लगाव' की विषय वस्तु या व्यक्ति यदि उत्तर में स्नेहपूर्ण व्यवहार न भी करे, तब भी छोटे बच्चों का उनके प्रति 'लगाव' के भाव में कोई खास परिवर्तन नहीं आता। अक्सर वे ताउम्र ऐसे वयस्कों द्वारा स्वीकार किए जाने को तरसते हैं, जिनसे उन्हें 'लगाव' हो, चाहे वे वयस्क उन्हें स्नेह दें, उनकी परवाह करें या नहीं।

लगाव का सिद्धांत : जॉन बॉल्बी

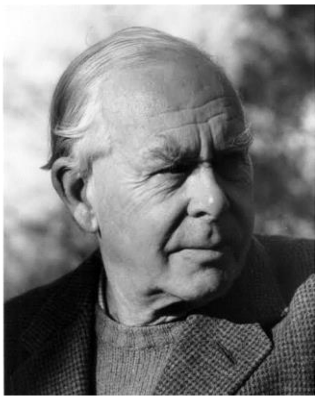

जॉन वाल्वी का मॉडल :–व्यवहारों की चार प्रणाली पर आधारित है –

1. अनुलग्नक व्यवहार प्रणाली
2. अन्वेषण प्रणाली
3. अजनबियों के डर की प्रणाली
4. संबंध प्रणाली।

जॉन बॉल्बी (1907 –1990) :– संयुक्त राष्ट्र ने जॉन बॉल्बी को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनाथ और बेघर बच्चों द्वारा अनुभव की जाने वाली कठिनाइयों पर एक पुस्तिका बनाने के लिए कहा और उसी से जॉन बॉल्बी का लगाव सिद्धांत उत्पन्न हुआ।

यह थ्योरी व्यवहारवादी सिद्धांत से कहीं ज़्यादा गहराई से 'लगाव' को समझती है। जॉन बॉल्बी ने एक मनोसमीक्षक के नज़रिए से शिशु–पालनहार के संबंध को समझाने की कोशिश की। बॉल्बी द्वारा प्रस्तावित लगाव के विकास की चार अवस्थाएँ निम्न प्रकार से है :–

1. लगाव से पहले की अवस्था (जन्म से डेढ़ माह)

इस दौरान शिशु पकड़ना, मुस्कुराना, रोना, वयस्कों की आँखों में आँखें डालकर देखने या नज़र मिलाना, इन क्रियाओं को संकेतों की तरह उपयोग करके आसपास के लोगों से संबंध स्थापित करते हैं। उनको अच्छा लगता है, जब उन्हें कोई गोद में लेता है, थपथपाता है, लोरी सुनाता है या प्यार से उनसे कुछ कहता है। वे रोते हैं, जब माँ या कोई वयस्क उनको गोद से उतार दे। वे वयस्कों की प्रतिक्रियाओं से प्रेरित होकर अपना व्यवहार निश्चित कर लेते हैं। पर ध्यान देने वाली बात यह भी है कि इस उम्र तक शिशु अपने

पालनहार से कोई विशेष नाता नहीं बनाते और सभी वयस्कों से उनकी एक सी अपेक्षा रहती है।

2. लगाव–निर्माण की प्रक्रिया की अवस्था (डेढ़ माह से 6–8 माह)

यह वह समय है जब हालांकि शिशु परिचित पालनहार या माँ और अन्य वयस्कों में फर्क तो पहचानते हैं, अपने और उनके व्यवहार में अंतर करते हैं। फिर भी उनसे जुदा किए जाने पर वे सख्त प्रतिरोध नहीं करते। ये ज़रूर है कि वे माँ या पालनहार की उपस्थिति में ज्यादा स्वाभाविक व सहज महसूस करते हैं।

3. लगाव–निर्माण पूर्ण होने की अवस्था (6–8 माह से 1–2 वर्ष की आयु)

इस अवस्था में साफ तौर पर शिशु–पालनहार का नाता प्रस्तुत होता है। इस उम्र के बच्चे समझने लगते हैं कि वस्तु के आँखों से ओझल होने के बावजूद वस्तु का अस्तित्व बरकरार रहता है। गायब–भर होने से उनके अभिभावक–रक्षक–पालनहार नष्ट नहीं हुए हैं। इसी कारण से उनके इधर–उधर हो जाने पर रोने लगते हैं और उनको साथ रखने की सचेत कोशिश करते हैं – उनका पीछा करके, उनके ऊपर चढ़ने की कोशिश करके इत्यादि। जो बच्चे अपने पालकों के रिश्ते को लेकर सहज और निश्चिन्त हैं, वे अपने आसपास को ज़्यादा आत्मविश्वास से खोज–टटोल पाते हैं।

4. विपरीत संबंध का निर्माण (1–2 वर्ष और उसके उपरान्त)

दो साल की उम्र के बच्चे भाषा और भाव की प्रस्तुति में दक्षता हासिल करने लगते हैं। जिससे वे यह समझने लगते हैं कि माता–पिता के आने में देरी का कोई कारण होगा और किसी वजह से ही वे बच्चों से दूर भी जाते हैं। इससे वे वयस्कों के आसपास न होने से उतना विचलित नहीं होते और न ही उनके तुरन्त न लौट आने पर रोते हैं। एक और अन्तर जो बच्चों के व्यवहार में देखा जाता है वह यह है कि बड़ों का पीछा करने की बजाए वे इस उम्र में उन्हें रोकने के लिए नये तरीके अपनाते हैं – मौखिक रूप से ज़िद्द करके इत्यादि।

विचारणीय बिंदु

माँ को किसी काम से 2 साल की विशाखा को छोड़कर जाना है। वह बच्ची से कहती है–

विकल्प

1. में जल्द ही लौट आऊँगी। इतनी देर में तुम इस पहेली को मेरे लिए सुलझा के रखोगी?
2. कुछ नहीं बताती। यह सोचकर कि बच्ची अकारण ज़िद्द करेगी वह बिना बताए चली जाती है।
3. मुझे किसी काम से बैंक जाना है और फिर लौटते हुए बाज़ार और केमिस्ट की दुकान पर जाना है। में जल्दी ही लौट आऊँगी, पर हो सकता है कि मुझे देर भी हो जाए।

कौन सा विकल्प आपके विचार में सबसे उचित है? और क्यों?

इससे पहले कि हम यह जानें कि बच्चों में सही–गलत की समझ कैसे विकसित होती है? हम शिक्षकों का सही–गलत की परिभाषा पर एकमत होना जरूरी है।

सही–गलत कैसे निश्चित होता है?

क्या आपको याद है कि आपने आखिरी बार कब किसी बच्चे को धमकाने पर रोका था। आपने इसका क्या कारण दिया था। क्या आपने उसे यह कहा था कि इस विद्यालय में हम धौंसगिरी सहन नहीं करते या उस दूसरे इंसान को कितना बुरा लगेगा।

इस उदाहरण में सही व्यवहार करने के दो कारण प्रस्तुत किए गये थे – प्रथा संबंधी और नैतिक, अर्थात् हम बच्चे को यह बता सकते हैं कि कुछ व्यवहार इसलिए सही/गलत है, क्योंकि परिवार, स्कूल समाज की प्रथा ऐसा कहती है या फिर यह बता सकते है कि दूसरे को चोट पहुँचाना गलत है।

कुछ सामाजिक रीतियाँ, जो किसी प्रांत में किसी समय में न्यायपूर्ण (या 'सही') मानी जाती होगी, वे कहीं और कभी, सरासर अनैतिक (या 'गलत') भी हो सकती हैं। समलैंगिक संबंध, सती प्रथा, बाल–विवाह, न्यूक्लियर बॉम्ब, जानवरों का विच्छेदन इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं। इन मुद्दों पर चर्चा का दायरा वैज्ञानिक तर्क–वितर्क से ज्यादा बड़ा है।

व्यक्ति के स्तर पर बात की जाए तो मान लीजिए आप किसी का झूठ पकड़ लेते हैं तो क्या आप इसे सहसा 'गलत' करार देंगे या पहले उसके झूठ बोलने की मंशा जानना चाहेंगे। सामान्यतः हम झूठ–चोरी–झगड़े के पीछे कितना स्वार्थ या पुरूषार्थ था, इसे तोल–मोल कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे।

तो हमने देखा कि सही–गलत की अवधारणा समय, स्थान, परिस्थिति, मंशा, परिणाम इत्यादि पर निर्भर करती है। इसके dynamics परिणाम इतनी तीव्रता से बदलते हैं कि कई बार बहुत से मुद्दों पर सहमति रखने वाले लोग इन पर एकमत नहीं बना पाते। ये बदलते बच्चों में सही–गलत की अवधारणा के विकास को और दिलचस्प बना देते हैं, क्योंकि इस अवधारणा का संबंध संज्ञान और संवेग दोनों से है। यदि कोई इसपर नियंत्रण पा ले तो इसके परिणाम बड़े स्तर पर भी देखे जा सकते हैं। सत्ता में राजनैतिक दलों का पाठ्यचर्या में हस्तक्षेप इसका एक प्रमाण है।

नैतिक विकास और बच्चे

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः समाज में रहते हुए उसे अपना आचरण विभिन्न सामाजिक नियमों के अन्तर्गत नियंत्रित रखना पड़ता है। ये सामाजिक नियम उचित–अनुचित या सही–गलत का बोध कराते हैं कि व्यक्ति को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। इस प्रकार के नियम नैतिकता की ओर संकेत करते हैं। सत्य, ईमानदारी, माता–पिता एवं गुरू की आज्ञा का पालन एवं सम्मान नैतिकता के अन्तर्गत आते हैं। ये नैतिक नियम और विचार व्यक्ति के व्यवहार एवं चरित्र को परिष्कृत करते हैं। नैतिकता कर्त्तव्य की भावना का विकास करती है, जैसे, चोरी न करना, असत्य नहीं बोलना, अनुशासन में रहना, जीवों एवं प्रकृति पर दया करना इत्यादि।

नैतिकता नैतिक मानक या नियम के अनुपालन तथा विरोध के संबंधों को इंगित करती है। यह अधिकारों के मानक द्वारा जाँचे जानेवाले एक अभिप्राय, एक चरित्र, एक क्रिया, एक सिद्धांत या एक मनोभाव के गुणों से संबंधित है। नैतिकता एक क्रिया गुण है, जो इसे अच्छा बना देती है। नैतिक अधिकार अनुमोदित मानकों के अनुरूप किसी नियम का अनुपालन है। नैतिक जिम्मेदारियों के नियमों या सिद्धान्तों या व्यक्तियों के सामाजिक जीवन की जिम्मेदारियों को नैतिकता कहा जाता है।

समाज द्वारा मान्य आचरण के रूप में व्यवहार करना सीखना एक लम्बी एवं मंद प्रक्रिया है। यह बचपन के महत्त्वपूर्ण विकासात्मक कार्यों में से एक है। नैतिक शब्द का अंग्रेजी पर्याय मॉरल (Moral) लैटीन शब्द मोरेस (Moresa) से बना हुआ है, जिसका अर्थ आचरणों, रीति–रिवाजों तथा लोक प्रथाओं से है।

नैतिक विकास का सामान्य अर्थ बच्चों/किशोरों या वयस्कों में उचित एवं अनुचित व्यवहार में अंतर करके उसके अनुरूप व्यवहार करने की क्षमता से होती है।

नैतिक विकास से तात्पर्य उन प्रक्रियाओं से होता है, जिसके सहारे बच्चे उन नियमों को सीखते हैं, जो उन्हें दिए गए व्यवहार को सही तथा दूसरे को गलत मूल्यांकन करने में सहायता प्रदान करता है तथा इन नियमों के आलोक में अपनी क्रियाओं को निदेर्शित करता है। (जैनडेन, 1978)

बालकों को शारीरिक विकास के साथ–साथ सांवेगिक और बौद्धिक विकास भी होता है। ऐसा माना जाता है कि जब बालक व्यक्तिगत इच्छाओं और सामाजिक दायित्व के संघर्ष को नियंत्रित करना सीखता है, तब उसमें नैतिकता और उत्तरदायित्व का विकास होने लगता है। सामाजिक तथा बौद्धिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बालक भिन्न–भिन्न ढंग से सोचते तथा समझते हैं। इसलिए विकास की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में सामाजिक नियमों, कानूनों तथा प्रचलनों की समझ भी प्रायः भिन्न–भिन्न होती हैं।

बालक का विकास जैसे–जैसे आगे की ओर बढ़ता है, वह अपने सतत् क्रियाशील प्रयासों के द्वारा बाहरी जगत को समझने तथा अपने सामाजिक अनुभवों को नैतिक मूल्यों तथा नैतिक निर्णय के रूप में संगठित करते हुए अपने उत्तरदायित्व की भावना को प्रदर्शित करने का प्रयास करता रहता है। जैसे–जैसे उनके विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, उनमें नैतिक मूल्यों तथा उत्तरदायित्व की भावना में परिवर्तन होता जाता है। उदाहरण स्वरूप, प्रारंभिक विद्यालयों में चेतना सत्र के दौरान नैतिक गतिविधियों का आयोजन, एक था मोहन (माध्यमिक विद्यालय) एवं बापू की पाती (प्रारंभिक विद्यालय) का पाठ, संप्रति गाँधी कथा वाचन इत्यादि गतिविधियाँ उत्तरोत्तर कराये जाने से नैतिक मूल्यों और नैतिक निर्णयों को बल प्रदान करता है।

नैतिक विकास का सिद्धांत : ज्यां पियाजे

जीन पियाजे (1896–1980) स्विट्जरलैंड के एक चिकित्सा मनोवैज्ञानिक थे, जो बाल विकास पर किए गए कार्यों के कारण प्रसिद्ध है।

पियाजे के अनुसार बालक की दूसरे व्यक्तियों के प्रति उन्मुखता आत्म–केन्द्रित होने से समाज केन्द्रित होने की ओर धीमे–धीमे बढ़ती

है। तात्पर्य यह है कि बालक जैसे–जैसे वृद्धि प्राप्त करता है, उसका नैतिक विकास अपने मन में बनाए स्थायी नियमों से हटकर समाज के परिवर्तनशील नियमों की ओर होता जाता है, जो समाज में रहने वाले प्राणियों के हित से सम्बन्धित रहते है।

बालक अपने प्रारम्भिक वर्षों में सही या गलत की ओर स्थायी रूप से विचार रखता है। दूसरी तरफ एक किशोर अपने नैतिक निर्णय, औचित्य के आधार पर लेता है। सन् 1932 में प्रकाशित पियाजे की पुस्तक "The Moral Judgement of the Child" नैतिकता के संज्ञानात्मक पक्ष पर बल देती है। उसके अनुसार, नैतिकता, 'न्याय की भावना' एवं सामाजिक व्यवस्था के नियमों तथा ''आचारों के लिए आदर'' से जुड़ी होती है।

पियाजे बच्चों के नैतिक तर्क में रूचि रखते थे। उन्होंने पाया कि नियमों, नैतिक निर्णय और दंड के बारे में बच्चों के विचार पुराने होने के बाद अर्थात् बच्चों के बड़े होने के बाद बदल जाते हैं।

उनके अनुसार नैतिक विकास के तीन मुख्य स्तर होते है –

i. **अनाँमी चरण** (Anomy Stage) 0 to 5 years
ii. **विषम नैतिकता** (Heteronomy Stage) 5 to 12 years
iii. **स्वायत्त नैतिकता** (Autonomy Stage) 13 to 18 years

1. अनामी चरण Anomy Stage (0 to 5 years): यह अवस्था 0–5 वर्ष तक की मानी जाती है।

- इस अवस्था में बालक न तो नैतिक होते हैं और ना ही अनैतिक होते हैं, अर्थात् इस अवस्था में बच्चों को अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं होता है।
- इस अवस्था में बालक का पूरा व्यवहार पीड़ा व हर्ष पर आधारित रहता है। यदि बालक पीड़ा में है, तो उसका व्यवहार खराब होगा, और यदि वह खुश है तो अच्छा व्यवहार करेगा।

3. (विषम नैतिकता) Heteronomy Stage (5 to 12 years) –

- इस चरण में बच्चे सख्त नियमों का पालन करते है और आज्ञाकारी होते है। नियमों को बदला नहीं जा सकता है।
- यह चरण नैतिक यथार्थवाद (Moral Realism) के रूप में भी जाना जाता है। (बाहर से लगाई गई नैतिकता)।
- इस अवस्था में बालक का मुख्य व्यवहार दण्ड और पुरस्कार पर आधारित होता है। बालक को यदि दण्ड मिलता है, तो वह समझ जाता है कि उसने बुरा काम किया है, यदि पुरस्कार मिलता है, तो उसने अच्छा काम किया है।
- इस चरण के बच्चे नियमों का पालन करते है इसलिए वे किसी के व्यवहार के बारे में सही या गलत निर्णय, उस व्यवहार से होने वाले परिणामों को देखकर लेते है, न कि व्यवहारकर्त्ता के उद्देश्यों के आधार पर।

3. (स्वायत्त नैतिकता) Autonomy Morality यह चरण नैतिक सापेक्षता (Moral relativism) के रूप में जाना जाता है।

- इस अवस्था में बालकों की विचारधारा बदल जाती है। क्योंकि अब बालक समझ जाता है कि नैतिकता संबंधी सामाजिक नियम अनिश्चित तथा परिवर्तनशील है, अर्थात् वह समझ जाता है कि समाज की सहमति से नियमों को बदला जा सकता है।
- इस अवस्था में बालक नियमों के प्रति विवेक (अपने दिमाग) का प्रयोग करता है।
- किसी भी कार्य का मूल्यांकन वे उस व्यक्ति के इरादों और कार्य के परिणाम के आधार पर करते हैं। यदि गलत इरादे से अच्छा व्यवहार किया जाए, तब भी वह गलत ही होगा और अच्छे काम (इरादे) के लिए अगर गलत व्यवहार किया जाए, तो भी वह सही होगा। हमेशा बुरे कामों के लिए दंड देना जरूरी नहीं है, उन्हें समझाया भी जा सकता है।

प्रथम सत्र में हमलोगों ने शैशवावस्था से किशोरावस्था तक होने वाले सामाजिक विकास को जाना है। आइए इस इकाई में सिर्फ उत्तर बाल्यावस्था में होने वाले सामाजिक विकास और उसके अन्तर्गत नैतिकता एवं उत्तरदायित्व की भावना के विकास को इन परिस्थितियों द्वारा विस्तृत रूप से समझने का प्रयास करें :

परिस्थिति 1: विक्रम ट्रे में 6 काँच के गिलास उठाकर रसोईघर में ला रहा था। उससे ट्रे छूट गया और सारे गिलास टूट गए।

परिस्थिति 2: माँ ने सबको बिस्किट बाँटे और काँच का मर्तबान उठाकर ऊपर रख दिया। रवि को और बिस्किट खाने थे। माँ के इधर–उधर होते ही वह रसोईघर में जाता है और मर्तबान ऊपर से उतारने की कोशिश करता है। उससे मर्तबान टूट जाता है।

ये दोनों परिस्थितियाँ अलग–अलग उम्र के बच्चों को बताई गई उनसे पूछा गया कि किसकी गलती ज्यादा गंभीर थी और किसको ज्यादा सजा मिलनी चाहिए? इस प्रयोग के परिणाम से बच्चों में नैतिक विकास को समझने में बहुत मदद मिली।

ऐसा माना जाता है कि बच्चों में नैतिक विकास करने का एक तरीका है कहानियों, नाटकों आदि का प्रयोग, जिनसे बच्चों को सोचने और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए अवसर मिले।

विचारणीय बिंदु

ऐसी कोई दो बाल कहानियाँ या लोक कथाएँ सोचें, जिनमें नैतिकता पर बहस या चर्चा हो सके और एक से ज्यादा पक्षों के बारे में सोचने का अवसर मिले।

तो आइए देखते हैं कि ऊपर दिए गए परिस्थितियों पर बच्चों के क्या जवाब थे? छोटे बच्चों ने सबसे पहले तो 6 गिलास तोड़ने को 1 मर्तबान तोड़ने से ज्यादा गहन अपराध माना। जाहिर है, उनके ध्यान क्रिया की नियत पर (ईमानदारी या चोरी; प्रयास या गलती) नहीं गया। उनका पूरा ध्यान इस बात पर केंद्रित था कि नुकसान कहाँ ज्यादा हुआ है। 'छः' गिलासों का टूटना यानि ज्यादा नुकसान, यानि कि बड़ा अपराध; एक मर्तबान का टूटना अर्थात कम नुकसान, तो छोटा अपराध। वहीं बड़े बच्चों का जवाब वही था जो सामान्यतः किसी वयस्क का होता। वे 'नियत' के आधार पर निर्णय लेने में सक्षम थे। उनके अनुसार

बेशक 6 गिलास का नुकसान ज्यादा था, पर वहाँ विक्रम मदद कर रहा था तो वह अपराधी नहीं हो सकता। वहीं रवि ने केवल एक ही मर्तबान तोड़ा, पर उसकी मंशा चोरी–छिपे बिस्किट लेने की थी, तो इसे बड़ी गलती माना जा सकता है।

हम जानते हैं कि उत्तर बाल्यावस्था में सामाजिक विकास को अनेक कारक प्रभावित करते हैं जिनमें मुख्य कारक – वंशानुक्रम, शारीरिक तथा मानसिक विकास, संवेगात्मक विकास, परिवार, आर्थिक स्थिति, समाज, विद्यालय, शिक्षक और अन्य सांस्कृतिक, राजनैतिक दल, साहित्य, धार्मिक संस्थाएँ तथा जनसंचार माध्यम इत्यादि हैं। इस अवस्था में सामाजिक विकास एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। बालकों का सामाजिक वातावरण निरंतर परिवर्तनशील रहता है और उन्हें भी परिवर्तनों के अनुरूप बदलना होता है, जैसे – दूसरों का सहयोग करना, दूसरों के अनुरूप व्यवहार करना, शिष्टता का आचरण तथा सह–अस्तित्व को स्वीकारना इत्यादि सामाजिक परिपक्वता के लक्षण हैं। इस अवस्था के बालकों के सामाजिक वातावरण को नियंत्रित करके उन्हें सही दिशा में सामाजिक विकास के लिए प्रेरित किया जा सकता है, जिसमें शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है जो उन्हें स्वस्थ सामाजिक अंतःक्रिया का अवसर प्रदान कर उनमें सामाजीकरण की प्रक्रिया हो सबल बना सकता है।

नैतिक विकास का सिद्धांत : लारेंस कोहलबर्ग

लॉरेंस कोहलबर्ग (1927–1987) लॉरेंस कोहलबर्ग अमेरिकी मनोवैज्ञानिक थे। शिकागो विश्वविद्यालय एवं हार्वर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान विभाग में कार्य किया ये नैतिक विकास के विभिन्न चरणों के सिद्धांत के लिए विख्यात हैं। इन्होंने जीन पियाजे के सिद्धांत को विस्तार देने का प्रयास किया ।

कोहलबर्ग ने नैतिक विकास के सिद्धान्त में स्विस मनोवैज्ञानिक ज्याँ पियाजे के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को विस्तारित, परिवर्तित तथा परिस्कृत (Refined) किया है। इसमें इन्होंने 10 से 16 साल के बच्चों से लिए साक्षात्कार से प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण किया है।

इन बच्चों को कई नैतिक दुविधा से सामना कराया, जिसमें इन बच्चों को नियमों (rules) तथा प्राधिकारों के प्रति अनुपालन तथा दूसरों के कल्याण एवं आवश्यकताओं, जो उन नियमों के लगभग प्रतिकूल होते थे, के बीच चुनना होता था। पियाजे तथा कोहबर्ग के सिद्धांत में निम्नांकित बिंदुओं पर समानता है।

1) पियाजे के समान कोलहबर्ग भी अपने सिद्धांत से बच्चों के नैतिक निर्णयों पर, न कि उनकी क्रियाओं के, विश्लेषण पर अधिक बल डाले हैं।

2) पियाजे के समान कोहलबर्ग भी बच्चों से काल्पनिक कथाएँ, जिनमें नैतिक समस्याएँ सम्मिलित हैं, संबंधित प्रश्नों का विश्लेषण कर इस सिंद्धांत का विकास किया है।

ऐसे तो कोहलबर्ग कई लघु कथाओं को उपस्थित करके उसमें सम्मिलित नैतिक समस्या से संबद्व प्रश्न को पूछते थे, परंतु उनकी एक लघु कथा काफी मशहूर हो गई जिसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित है।

''यूरोप में एक महिला विशिष्ट प्रकार के कैंसर से प्रभावित थी। डॉक्टर के अनुसार मात्र एक ही दवा ऐसा था, जो उस महिला को कैंसर से छुटकारा दिला सकता था। एक दवा विक्रेता ने इस दवा को स्वयं ही तैयार किया था और उस दवा को उसकी लागत कीमत (Cost Price) से दस गुणा अधिक कीमत पर वह बेच रहा था। उस दवा की लागत कीमत 200 डॉलर थी परंतु वह उसे 2000 डॉलर की कीमत पर बेच रहा था। बीमार महिला के पति, जिसका नाम हिंज था, कई लोगों को कर्ज पर भी मुद्रा देने के लिए सघन संपर्क स्थापित किया, परंतु उसे मात्र 1000 डालर ही प्राप्त हो सका। उन्होंने दवा विक्रेता से फिर संपर्क किया और कहा कि इस दवा के नहीं मिलने पर चुँकी उसकी पत्नी मर जाएगी, अतः वह या तो उस दवा को आधी कीमत पर उसे दे दे या फिर आधी कीमत अभी ले ले और आधी कीमत को बाद में भुगतान करने की इजाजत दे। दवा विक्रेता ने हिंज की प्रार्थना को ठुकरा दिया। हिंज बहुत ही निराश हो गया और अगली रात दवा विक्रेता के स्टोर का ताला तोड़कर उस दवा को चुरा लिया। क्या हिंज को ऐसा करना चाहिए था? क्या उनका व्यवहार नैतिक रूप से सही था या गलत और क्यों?"

प्रयोगों में ऐसे ही लघु कथाओं से प्राप्त अनुक्रियाओं का विश्लेषण करके कोहलबर्ग ने यह बतलाया कि व्यक्ति में नैतिक विकास तीन मुख्य अवस्थाओं से होकर गुजरती है और प्रत्येक स्तर की दो–दो अवस्थाएँ होती है। कोहलबर्ग ने यह मत जाहिर किया है कि इन अवस्थाओं का क्रम निश्चित होता है, परंतु सभी व्यक्तियों में एक–ही उम्र में ये अवस्थाएँ नहीं होती हैं। व्यक्ति किसी एक अवस्था को छोड़कर आगे नहीं बढ़ता है। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो नैतिक निर्णय के उच्चतम स्तर पर कभी नहीं पहुँच पाते हैं और कुछ लोग नैतिक निर्णय के अपरिपक्व स्तर पर ही हमेशा पुरस्कार पाने तथा दंड से छुटकारा पाने तक ही अपने को सीमित कर रखे होते हैं। उन तीनों स्तरों तथा उनमें सम्मिलित प्रत्येक अवस्था का वर्णन निम्नांकित है।

(क) प्राक परम्परागत नैतिकता का स्तर (Level of Preconventional Level)

(ख) परम्परागत नैतिकता का स्तर (Level of conventional Level)

(ग) उत्तर परम्परागत नैतिकता का स्तर (Level of postconventional Level)

स्तर	अवस्था	स्तर विशेष उन्मुखीकरण	प्रमुख संबंध	आयु
प्राक्–परम्परागत (Level of Preconventional Level)	प्राक् नैतिकता	दण्ड और आज्ञाकारिता उन्मुखीकरण	दण्ड से बचाव	4–10 वर्ष
		स्वरूचि उन्मुखीकरण	स्वलाभ व्यवहार	
परम्परागत (Level of	समाजिक नैतिकता	अर्न्तवैयक्तिक सहमति	तथा अच्छा लड़का / लड़की	10–13 वर्ष

conventional Level)			दृष्टिकोण	
		प्रभुत्व तथा सामाजिक क्रम संपोषण उन्मुखीकरण	कानून व्यवस्था नैतिकता	
उत्तर परम्परागत (Level of postconventional Level)	स्व–अनुमोदित नैतिकता	समाजिक संविदा उन्मुखीकरण	लोकतांत्रिकताः अनुमोदित चेतना	13+ या मध्य या उत्तर प्रौढ़ता तक या कभी नहीं
		सर्वाभौमिक नीतिपरक सिद्वान्त	सैद्वान्तिक चेतना	

(क) प्राक परम्परागत नैतिकता का स्तर :– यह अवस्था 4 साल से लेकर 10 साल की आयु तक होती है। इस अवस्था में नैतिक तर्क दूसरे लोगों के मानकों से निर्धारित होता है, न कि सही तथा गलत के अपने आंतरीकृत मानकों से। बच्चे यहाँ किसी भी व्यवहार को अच्छा या बुरा उसके भौतिक परिणामों के आधार पर कहते हैं। इसके तहत आनेवाली दो अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार है :–

I. **दंड एवं आज्ञाकारिता उन्मुखीकरण :–** इस अवस्था के बच्चों में दंड से दूर रहने का अभिप्रेरण अधिक मजबूत होता है। इस अवस्था में बच्चे प्रतिष्ठित या शक्तिशाली व्यक्ति, प्रायः माता–पिता के प्रति सम्मान दिखलाता है, ताकि उसे दंड नहीं मिल सके। किसी भी कार्य या व्यवहार की नैतिकता को यहाँ व्यक्ति उसके भौतिक परिणामों के रूप में परिभाषित करता है। जैसे, एक छात्र जब तैयार होकर विद्यालय जाने वाला होता है, तभी उसकी माँ पूछती हैं, आपने विद्यालय का गृहकार्य कर लिया है। गृहकार्य नहीं करने पर भी उसका जवाब हाँ होता है। क्योंकि उसे डर होता है कि ना जवाब देने पर शारीरिक दण्ड मिल सकता हैं।

II. **स्वरूची उन्मुखीकरण :–** इस अवस्था के बच्चों में पुरस्कार पाने की अभिप्रेरणा प्रबल होती है। इस अवस्था में यद्यपि बच्चे पारस्परिकता तथा सहभागिता के स्पष्ट सबूत प्रदान करते हैं, यह छलयोजित (Manipulative) तथा आत्म–परिपूरक पारस्परिकता होती है, न कि सही अर्थ में न्याय उदारता सहानुभूति पर आधारित है। यहाँ अदला–बदली का भाव मजबूत होता है। जैसे, छात्र जब घर से तैयार होकर विद्यालय निकलने से पहले बार–बार अपने पिता को कहता है, मैंने अपना गृहकार्य पूरा कर लिया है इसलिए मुझे चॉकलेट चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अवस्था में बच्चों में पुरस्कार पाने की अभिप्रेरणा प्रबल होती है।

(ख) परम्परागत नैतिकता का स्तर :– यह अवस्था 10 से 13 साल की होती है जहाँ बच्चे दूसरों के मानकों को अपने में आंतरीकृत कर लेता है तथा उन मानकों के अनुसार सही तथा गलत का निर्णय करता है। बच्चे यहाँ उन सभी क्रियाओं को सही समझता है जिससे दूसरों की मदद होती है तथा दूसरे लोग उसे अनुमोदित करते हैं या जो समाज के नियमों के अनुकूल होता है। इसके तहत आनेवाली दो अवस्थाएँ इस प्रकार है :–

I. **उत्तम लड़का–अच्छी लड़की की उन्मुखता :–** इस अवस्था में बच्चों में अनुमोदन पाने तथा निरनुमोदन से दूर रहने का अभिप्रेरण तीव्र होता है। हिंज द्विविधा के उदाहरण से बच्चे पक्ष तथा विपक्ष में इस ढंग से नैतिक तर्क कर सकते हैं, जैसे – एक छात्रा अपेक्षाकृत विद्यालय थोड़ी देर से पहुँचती है, वर्ग शिक्षक द्वारा पूछे जाने पर बहाना बना लेती हैं कि साईकिल खराब हो गई थी। ऐसा जवाब वह इसलिए देती है कि इस अवस्था में बच्चों में अनुमोदन पाने तथा निरनुमोदन से दूर रहने का अभिप्रेरणा तीव्र होता है।

(ग) **उत्तर परम्परागत नैतिकता का स्तर** :– इस अवस्था में बच्चों में नैतिक आचरण पूर्णतः आंतरिक नियंत्रण में होता है। यह नैतिकता का सबसे उच्च स्तर होता है ओर इसमें नैतिकता का ज्ञान बच्चों में होता है। इसके तहत भी दो अवस्थाएँ होती हैं जो इस प्रकार हैं–

I. **सामाजिक संविदा उन्मुखीकरण :–** इस अवस्था में बच्चे या किशोर उन वैयक्तिक अधिकार तथा नियमों का आदर करते हैं जो प्रजातांत्रिक रूप से मान्य होता है। वे यहाँ लोगों के कल्याण तथा बहुसंख्यको के इच्छाओं का तर्क संगत महत्त्व देते हैं। यहाँ वे विश्वास करते हैं कि समाज का उत्तम कल्याण तब होता है, जब उसके सदस्य समाज के नियमों का आदरपूर्वक पालन करते हैं। जैसे – छात्र रमेश का मित्र एक निर्धन छात्र, है जिसके पास किताबों की कमी रहती हैं। अपने माता–पिता के मना करने के बावजूद वह किताबों की मदद अपने मित्र को करता है यहाँ वह स्व–निर्णय लेता है, क्योंकि उसे विश्वास हैं कि निर्धनों की मदद करके ही हमारे समाज का सर्वोतम विकास हो सकता हैं।

II. **सार्वत्रिक नीतिपरक सिद्धांत :–** इस अवस्था में अपने नैतिक नियमों को प्रोत्साहित करने तथा आत्मनिंदा से बचने का अभिप्रेरण तीव्र होता है। यह उच्चतम सामाजिक स्तर का उच्चतम अवस्था होता है, जहाँ किशोरों में सार्वत्रिक नैतिक नियम की नैतिकता बरकरार रहती है। यहाँ किशोर दूसरों के विचारों तथा नैतिक अनुरूप व्यवहार करता है।

आलोचनाएँ

कैरोल गिलिगन :– एक अमेरिकी मनोवैज्ञानिक है। यह लॉरेंस कोहलबर्ग की शिष्या थी जिन्होंने आगे चलकर उनके नैतिक विकास के सिद्धांत की आलोचना की। उन्होंने देखभाल आधारित नैतिकता (care-based morality) एवं न्याय आधारित नैतिकता (justice based morality) की बात की है। कोहलबर्ग द्वारा प्रतिपादित नैतिक विकास के सिद्धांत की इन बिंदुओं पर आलोचना की गई हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि कोहलबर्ग के इस सिद्धांत में पश्चिमी सांस्कृतिक पूर्वाग्रह है। (सिम्पसन, 1974) यह सिद्धांत लिंग पूर्वाग्रसित है। (गिल्लीगन, 1972) फिर भी तमाम अलोचनाओं के बाद भी कोहलवर्ग का नैतिक विकास का सिद्धांत, प्यां–प्याजे की अवस्थाओ को विस्तार देने का व्यवहारिक प्रयास है।

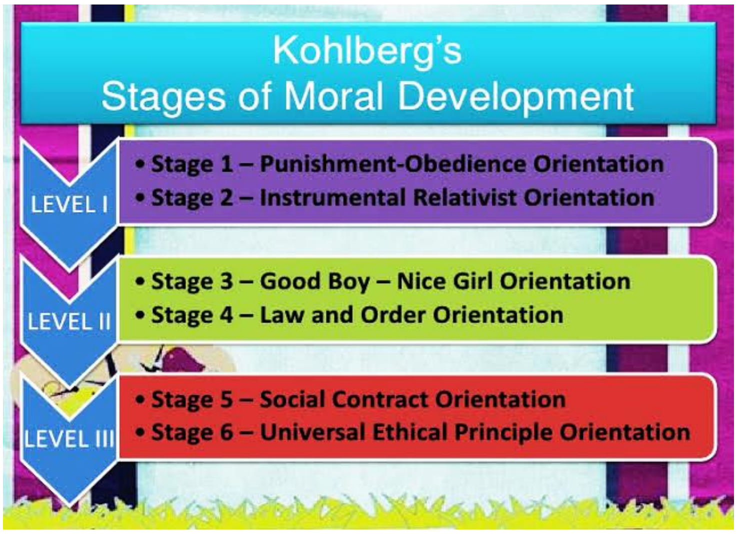

समेकन

इस इकाई में बच्चों के विकास का समग्र रूप प्रस्तुत किया गया है। ऐसा करते समय बाल–विकास और उसकी विभिन्न पहलुओं जैसे – शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, और नैतिक विकास पर चर्चा की गई है, साथ–ही–साथ बच्चों के विकास के मनोसामाजिक सिद्धांत एवं बाल–विकास के विभिन्न सिद्धांतो को विश्लेषण किया है।

अभ्यास के प्रश्न

1. व्यक्तित्व के विकास के विविध आयामों की चर्चा करें तथा यह समझाये की बच्चे का व्यक्तित्व किन–किन कारणों से प्रभावित होता है?
2. एरिक्सन के मनोसमाजिक सिद्धांत का विश्लेषण करें?
3. जॉन–बॉल्बी के लगाव के सिद्धांत का अनुप्रयोग कक्षा–कक्ष प्रक्रिया में शिक्षक किस प्रकार कर सकते हैं?
4. ज्यां पियाजे के नैतिक विकास के सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण करें?
5. संवेगात्मक विकास से आप क्या समझते हैं? प्राथमिक विद्यालय के बच्चे की संवेगात्मक विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
6. कोहलबर्ग के नैतिक विकास सिद्धांत एवं पियाजे के नैतिक विकास सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
7. प्राथमिक विद्यालय के बच्चे के विकास में विद्यालय की क्या भूमिका है? विवेचना कीजिए।
8. बच्चों के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारकों की विवेचना करें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- एन.सी.ई.आर.टी. (2005), राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005, नई दिल्ली: एन.सी.ई. आर.टी.
- एस.सी.ई.आर.टी. (2008), बिहार पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2008, पटना: एस.सी.ई.आर.टी. , पटना
- सिंह, अरूण कुमार (2012), समाज मनोविज्ञान की रूपरेखा, पटना: मोतीलाल बनारसीदास
- मंगल, एस. के. (2008), शिक्षा मनोविज्ञान, नई दिल्ली: हॉल ऑफ इण्डिया प्रा. लि.
- गुप्ता, एस.पी., अलका गुप्ता (2014) उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, इलाहाबाद: शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
- Aggarwal, J.C. (1998). Essential of Educational Psychology, Delhi
- Berk, Laura E. (2007). Child Development. New Delhi: Pearson Education.
- Piaget, Jean (2002). Language and Thought of the Child. London: Routledge.
- Ranganathan, N. (2000). The Primary School Child: Development and Education. New Delhi: Orient Longman Publication.
- Woolfolk, Anita (2005). Educational Psychology. Delhi: Pearson.